प्र वा ल

•

सुरेशचन्द्र वात्स्यायन

हिन्दी साहित्य वितान संस्थान
शिमला–देहली–लुधियाना

सा विद्या या विमुक्तये
Arya College, Women Section
Ludhiana
LIBRARY
Class No. 8 H I
Book No. V 45 P
Acc. No. 7387

प्रवाल

•

सुरेशचन्द्र वात्स्यायन

हिन्दी साहित्य वितान संस्थान
शिमला–देहली–लुधियाना

कृतिकार
सुरेशचन्द्र वात्स्यायन,
प्राचार्य (प्रिंसिपल),
ला. लाजपतराय गवर्नमेण्ट आर्ट्स एण्ड साइन्स कॉलिज,
ढुडिके (फरीदकोट, पंजाब).

इस कृति के सर्वाधिकार
रचयिता के पास
सुरक्षित हैं.

दूसरा संस्करण	माघ, 1913 (शक) माघ, 2048 (विक्रमी) फरवरी, 1992 (ईसवी)
मूल्य	रु. [illegible].00 (पुस्तकालय संस्करण) रु. [illegible]0 (छात्र संस्करण)
प्रकाशक	हिन्दी साहित्य वितान संस्थान शिमला – देहली – लुधियाना.
मुद्रक	वीरेन्द्र बावा, प्रकाश कम्युनिकेशन्स, जालन्धर शहर.

वे पूज्य पिता मेरे

उठ बैठा हूँ खुलते ही आँख अचानक
गूँगी निँदिया ने मुझसे मुख मोड़ लिया
बैठा गाता था जिस पर मेरा गायक
सपने का ध्रुवपद उसने वह तोड़ दिया !

बन कर लय सरगम की मेरे अधिनायक
वे पूज्य पिता मेरे जो पास अभी थे
इस जीवन स्वर के वे मेरे उन्नायक
क्या सपना ही थे वे जो 'सत्य' अभी थे ?

टूट गया सपना ध्रुवपद वह टूट गया
कैसे देखो घट माटी का फूट गया !

मैं सपना हूँ ध्रुवपद हूँ छलक रहा घट
छलक रहे जल का स्वर मेरा कब अपना
बाहू में धर घट अयि चलती पनिहारिन
दिखलातीं तुम सपने में कैसा सपना ?

समर्पण

जो चिर अस्तित्व जलधि में
तारक दीपक तैराती
शतपोत बने ग्रहगण में
इक भूति वही लहराती!

शतपोत भूति के ग्रहगण
जो अन्तरिक्ष अम्बुधि में
इक पोत सौर यह मेरा
उन कोटि कोटि अगणित में!

झलमल ग्रह-नौकादल में
जो ओणम पर्व प्रवर्तित
उस चिर रहस्य को मेरे
स्वर-बाल प्रवाल समर्पित!

अनुक्रम

प्ररोह

१ : मंगलाचरण

३ : किन्तु क्यों

४ : राष्ट्र-वन्दना

५ : बाती मोम का त्योहार

७ : पर्व पल्लव का

९ : विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना

११ : मैं अनजान विवश इस पथ पर

१२ : सूत सबके पास

१३ : दूर से ध्वनि आज कोई

१५ : मैं तुम्हारे सदन में

१६ : कहते हैं

१७ : घिरे बदरवा घिरे

१८ : ओ चिर नीरव

१९ : पूजा की मैं जोत

२० : ज्योति का सस्मित अभिवादन

२१ : खुद देखो

२२ : सान्ध्य सन्दोह

३२ : एकांकी तथा संकलन

३३ : दीवट-पनघट

३४ : मैं चिरन्तन गान

३६ : इक झांसी नई बसानो है

३८ : बदरिया बरस रही क्रान्ति की भोगती शंका
(चण्डीगढ़ में सावन की एक रात)

४२ : पुनर्नवा

४३ : पर्व समर्पण का

४८ : बरस रे उर के जलद कुमार

५० : बुरा कुछ धीरे धीरे में नहीं

५२ : कदम पर कदम

५३ : गीत तू गा

५४ : … …' द
… …' र
५५ : बह जाता है पानी
५६ : भस्म ही जब कहे शिव को
५८ : युग विधाता
५९ : मिला.
कदम से कदम मिला
६२ : इक चित्र खचित वह धरती
(अब हिमाचल प्रदेश के अंगभूत काँगड़ा जनपद की हमीरपुर तहसील में स्थित मसानिया— घाटी का श्रावणी संस्मरण)
६५ : धड़कते चावों की बोली
६६ : अगर तू रहे अनुकूल
६७ : फिर रात चाँदनी आई है
६८ : रात चाँदनी और गुलमुहर
७३ : नीड़ तिनकों का भला
७४ : आ, कि स्नेहमय दीपक
अपने जीवन का जला लें हम !
७५ : आओ, अयि आ भी जाओ
७६ : यह नियम तो है चिरन्तन ही
७७ : यायावर हे शत डहर-निकर के
७८ : प्रस्तुत है अस्थि दधीचि की
८३ : प्रश्न एक
८८ : सावधान
८९ : जय हिन्दी
९३ : रात अँधेरी है
९४ : अभी आधी रात
९५ : कुछ कह न सका मैं
९६ : मौन रसिक ओ
९८ : नव वर्ष क्रिस्तान
१०१ : सत्य श्री अकाल
जय जय महाकाल
(श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी महाराज की ३००वीं वर्ष गाँठ पर एक आवाहन)
१०४ : प्रवाल : एक सम्बोधन

प्ररोह

भूति एवं अस्तित्व सापेक्षिक विधाएँ हैं। एक की प्रत्यक्षता ही दूसरे की अनुमिति का आधार है। सविकल्प, व्याकृत और बन्धनमय होने के कारण एक यदि ससीम है तो अखण्ड, अव्याकृत और निर्बन्ध होने के कारण दूसरा असीम है। एक अपने समाधान में प्रतिपल विपरिवर्तमान और गतिशील है जबकि दूसरा अपनी समाधि में चिर और स्थिर है। गुणों में चरित रहना, नाम और रूप में ढलते रहना एक की निगति है और गुणातीत, अनाम एवं अरूप रहना दूसरे की नियति। प्रत्यक्ष एवं गोचर होकर जो सगुण, सनाम एवं रूपवान हो जाता है उसका वाचक शब्द भूति है। जो मात्र अनुमेय है वह अस्तित्व है।

उदय-अस्त, आरोह-अवरोह और ऊर्ध्व-निम्न में जो विपरिवर्तमान है वही 'भू' की दशा में है। जो 'भू' की दशा में है वही भव है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त शैशव, कैशोर्य, तारुण्य, यौवन, प्रौढ़ता एवं वार्धक्य में जो प्रतिपल परिणत होता है उसका परिणत होता जाना ही भूति है। परिणति का यह प्रकट एवं गोचर पक्ष ही भव है।

पश्चिम में वैज्ञानिकों ने जिनको ईथर और इनर्जी कहा है वे अस्तित्व के

ही प्रतिरूप अथवा पर्याय कहे जा सकते हैं। भूति और अस्तित्व क्या किसी अन्य के स्वगत भेद स्वीकार किए जाएँ अथवा भूति को ही अस्तित्व का स्वगत भेद मान लिया जाय ? यह 'अन्य' ही क्या वह परात्पर परब्रह्म है जिसे अक्षर और नित्य कहा गया है या ईश्वर और अस्तित्व ही उसके वाचक हैं। यहाँ दो प्रकार की संभावना की जा सकती है; एक, भूति और अस्तित्व जिसके स्वगत भेद हैं वही परात्पर परब्रह्म है; दो, परात्पर परब्रह्म और कुछ नहीं ईश्वर अथवा अस्तित्व के ही पर्याय हैं। तथ्य जो भी हो, इस विषय में कुछ भी कह सकने में अभी मैं असमर्थ हूँ। संभावना के स्तर पर मैं स्पन्दित हूँ, अभी तथ्य यही है।

ब्रह्म शब्द बृहि (बृंह्) धातु में औणादिक मनिन् प्रत्यय लगाने से बनता है। बृंह् धातु का अर्थ है बढ़ना। इस तरह ब्रह्म शब्द का अर्थ हो सकता है निरन्तर वर्धमान अथवा वृद्धि में विराट। पहले अर्थ में ब्रह्म सतत विकसनशील भूति के अधिक समीप कहा जा सकता है जबकि दूसरे अर्थ में वह उस परात्पर, परे से भी परे, का सहधर्मी स्वीकार किया जा सकता है जिसका केन्द्र सर्वत्र है परन्तु परिधि कहीं नहीं, जो शरीर-इन्द्रियों-मन-बुद्धि से भी परे है :—

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
>
> —श्रीमद्भगवद्गीता ३–४२

पौ फटने की वेला से लेकर पुनः पौ फटने की वेला तक आलोक और अंधकार की शत शत मन्द-तीव्र सुकुमार-परुष विरल-सघन परिणतियों का साक्षात्कार प्रतिपल घटित हो रहे विपरिवर्तन को प्रत्यक्ष करता है। कली-मुकुल-फूल एवं फल हैं तो एक ही डाली पर पकने वाले फल की भूति के वाचक परन्तु ये वाचक हैं अत्यन्त अपर्याप्त। कली अकस्मात् मुकुल नहीं बनती, मुकुल निमिष मात्र में फूल नहीं बनता, फूल पल भर में ही फल नहीं बन जाता, न ही फल क्षण में पक कर आस्वाद्य हो जाता है। वास्तविकता यह है कि कली में प्रतिपल कुछ परिवर्तन होता जाता है जिसका बोध हमें तभी होता है जब वह कुछ वैसी बन जाती है जिसे हम मुकुल कहते हैं। यही दशा मुकुल, फूल और रसते फल की है। भूति की यही प्रक्रिया है। भूति के विपरिणमन अथवा विपरिवर्तन में जो प्रतिष्ठित है वह गति है। इस गति की शक्ति को ही काल कहा गया है। कल्प-युग, सहस्राब्दी-शताब्दी, संवत्सर-मास, दिन-रात, घड़ी-पल ऊर्मियों की

तरह कालाम्बुधि की भंगिमाएँ हैं। इनसे काल का अनुमान भी होता है, भूति के विपरिणमन का बोध भी। भूति और काल इस दृष्टि से सापेक्ष हैं। हमारा यह भूलोक, जिसमें भूलोक है हमारा वह सौर मण्डल, जिसमें यह सौर मण्डल है हमारी वह आकाशगंगा—सभी गतिशील हैं। भूति के इन अन्तहीन एक केन्द्रीय विस्तार वृत्तों में भी अप्रतिहत गति है। इस गति का मानदण्ड उसकी शक्ति है। मन्थर, मन्द, शीघ्र, त्वरित एवं सत्वर इसी शक्ति की संज्ञाएँ हैं। गति की यह शक्ति ही काल है। अपने विराट रूप में भूति जिस प्रकार ब्रह्म की संभावना अथवा संकेत है उसी प्रकार काल भी अपने विराट अंबुधि-प्रसार में ब्रह्म का ही संकेत है। यही कारण है कि भारतीय चिन्ता-धारा में कला, काष्ठादि रूप से भूति के विपरिणमन की मानभूत काल स्वरूपिणी शक्ति को नारायणी, भगवान् महाकाल एवं काली के रूप में कल्पित करके उसकी वंदना की गई है :—

(क) कलाकाष्ठादिरूपेण परिणाम प्रदायिनी।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तुते॥

—दुर्गासप्तशती ११–८

(ख) अनादि भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त संयमाः॥
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तम
स संकोच विकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥

—विष्णुपुराण १.२. २६–३१

(ग) क्रमाक्रमात्मा कालश्च सर्वः (परः) संविदि वर्तते
काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते।

अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोकः
काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलिः (श्रीनगर)
१६२२; चतुर्थो भागः
आह्निक ६। श्लोक ७

कल् धातु से व्युत्पन्न काल शब्द प्रेरण, क्षेप, गति और संख्यान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। समय शब्द में गति अर्थ वाली 'इ' धातु ही सम उपसर्ग के साथ न्यस्त है। सम्यक् एवं सन्तुलित गति ही समय है। गति का सन्तुलन ही भूति-चक्र का स्वगत धर्म है।

वेद, महाभारत एवं पुराण में भी काल का जो विवरण उपलब्ध होता है

उसके अनुसार काल समस्त भूति का कर्त्ता-हर्त्ता है, भूत-वर्तमान और भविष्य का अधिष्ठान है :—

(क) कालोऽमूं दिवसमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह्विवितिष्ठते
कालः प्रजा असृजत् कालो अग्रे प्रजापतिम्
कालादापः समभवत् ।
—अथर्ववेद (१६/५३/५,१० तथा १६/५४/१)

(काल से द्यौ पृथिवी का जन्म हुआ, काल में भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्थिति है, काल ने प्रजाओं की रचना की। प्रजापति से पहले काल था, काल ने जल को जन्म दिया)।

(ख) कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजा कालं कालः शमयते पुनः
कालो विकुरुते भगवान् सर्वाल्लोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजाः विसृजते पुनः
कालः सुप्तेषु जागर्ति चरत्यविधृतः समः
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि।
—महाभारत (आदिपर्व १/२७–२७६)

(भाव-अभाव, सुख-असुख—सभी कालमूल है। भौतिकों का स्रष्टा और प्रजाओं का संहर्ता काल है। संहार में रत काल को काल ही शान्त करता है।* शुभाशुभ भावों का प्रवर्तक काल है। प्रजाओं का संक्षेपण और पुनः विसृजन काल द्वारा ही होता है। भौतिकों की सुषुप्ति दशा में भी काल जाग्रत रहता है। अपने संचार में वह अबाध है। अतीत अनागत और वर्तमान भूति को कालकृत समझना उचित है, व्यामुग्ध होना उपयुक्त नहीं।)

जैन दर्शन में भी (भूति के) वर्तन, परिणमन एवं परापरत्व (भावी-भूत) को काल के धर्म कहा गया है :—

वर्तनापरिणामक्रियाः परापरत्वे च कालस्य।
उमास्वामीः तत्त्वाभिगमसूत्र, ५.२२

देवता के रूप में काल की प्रतिष्ठा का भारतीय प्रयास भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ विदेशों में भी अपनी छाप छोड़ गया है। स्वर्गीय डॉ० रघुवीर और उनके आत्मज डॉ० लोकेशचन्द्र द्वारा प्रकाशित 'मोट-

---

* इसका आशय परवर्ती पृष्ठों में महाकाल के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है।

मोंगोल देव-चित्रावलि' के प्रथम आठ खण्डों में कालचक्र, ब्राह्मणरूपधर महाकाल एवं नाथ महाकाल प्रभृति देवताओं के अनेकानेक चित्र काल की भारतीय प्रतिष्ठा के ही स्मारक हैं। शिबिरदेश (साइबेरिया) के आंचलिक जीवन में डॉ० रघुवीर (अब स्वर्गीय) ने महाकाल की उपासना का जो साक्षात्कार किया था उसका उल्लेख उनके आत्मज डॉ० लोकेशचन्द्र ने इन शब्दों में किया है :—

"ऐसे एक मन्दिर में पिता जी गए थे और उस दिन चालीस पचास मोंगोल भिक्षु गंभीर नागांकित* ढोलों और अनेक मन्द्र वाद्यों के साथ अपनी उपासना सम्पन्न कर रहे थे......पिता जी ने भिक्षु-गण को एक स्वर से धरातल पर देवों का आह्वान करते हुए सुना। हूयमान देव थे—विकराल महाकाल। स्तोत्र का पाठ संस्कृत में सुपुष्टकाय मोंगोल कर रहे थे—महागाला गालरूपा—जिसका शुद्ध-रूप 'महाकाल कालरूप' है। हमारी उज्जयिनी का विख्यात महा-काल का मन्दिर मौन है परन्तु इन सुदूर स्थलियों में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व गए हुए स्तोत्र......"

—आचार्य रघुवीर श्रद्धांजलि
पृ. 454

भारतीय चिन्ताधारा ने काल को विपरिणमन का सातत्य स्वीकार करके जिस भूति के साथ जोड़ा है उसे यदि स्पेस कहा जाय तब भूति ही क्या देश का पर्याय नहीं हो जायगी ? स्पेस का वाचक आकाश का वह अवकाश है जिसे हम अन्तरिक्ष कहते हैं। आकाश और दिक्-देश भारतीय दर्शन और पुराणों के अनुसार भिन्न तत्त्व है :—

(क) पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। —वैशेषिक सूत्र १.५

(पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये द्रव्य हैं)।

(ख) देवा वैकारिका दश
दिग्वातार्क प्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।
—श्रीमद्भागवत ३/५/३०

(दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्वी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र मित्र—ये विकार—विपरिणमन, विपरिवर्तन—से उत्पन्न दशदेव हैं)।

---

* नाग भारतीय तंत्रविद्या में काल का प्रतीक है।

(ग) दिशत्यवकाशं दिक्।

— अमरकोश २/२ पर क्षीरस्वामी की टीका

(अन्तरिक्ष का संकेत होने के कारण इसकी अभिधा दिक् है)

अतः स्पष्ट रहना चाहिए कि न्यूटन जब स्पेस तथा टाइम की निरपेक्षता को सम्भव कहते हैं अथवा अलबर्ट आइन्स्टीन स्पेस-टाइम को परस्पर सापेक्ष मानकर जब उनकी प्रमिति-चतुष्टयात्मक व्याख्या करने लगते हैं अथवा नार्लिकर जब इस व्याख्या की संगति को पुनः सन्देहास्पद घोषित करने लगते हैं तब उस स्पेस का अर्थ या तो अन्तरिक्ष हो सकता है या अन्तरिक्ष-वर्ती भौतिकता। यह अपर अर्थ ही मुझको ग्राह्य लगता है। इसी अर्थ में प्रस्तुत संग्रह की कतिपय रचनाओं में 'देश' शब्द आया है। काल को मैं भौतिकता को गति-शक्ति ही मान सका हूँ।

संस्कृत में 'भू' धातु का अर्थ है 'होना'। होने का भाव ही भूति है। इसके विपरीत अस्तित्व में अस्ति का भाव है। धातु पाठ के अनुसार ('अस् भुवि' तथा 'भू सत्तायाम्') अस् धातु का प्रयोग 'होने' के अर्थों में और भू धातु का विन्यास सत्ता के अर्थों में रूढ़ है। आपातत: अथवा प्रथम दृष्टि में तो प्रतीति यही होती है कि 'अस्' और 'भू' पर्यायवाची हैं परन्तु तनिक और विचार करने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि पर्याय न होकर वे दोनों अपने मूलार्थ में अन्योन्याश्रित हैं, सापेक्ष हैं। अपने मूलार्थ में विशिष्ट होते हुए भी कृपा, अनुकम्पा एवं करुणा जिस प्रकार एक ही अर्थ के तीन आयाम हैं उसी प्रकार अस् और भू भी एक ही आशय की परस्पर सापेक्ष परन्तु मूल में कुछ भिन्न विधाएँ हैं। दोनों के अर्थ सांकर्य का मूल बिन्दु एवं उदयाचल ठीक वहाँ से ही परिकल्पनीय है जहाँ से विपरिणमन प्रवर्तित होता है। वह क्षितिज की तरह ही तो होना चाहिये जिसका एक पक्ष प्रत्यक्ष है परन्तु दूसरा उसी तरह अनुमेय है जैसे बाहिरी क्रिया की पार्श्ववर्तिनी इच्छा। यह क्षितिज ही उदय, जन्म अथवा आविर्भाव का वह बिन्दु है जो अस्ति का संकेत करता है। यहीं से विपरिणमन, वर्धन, अपक्षय एवं विनाश चरित, सम्पन्न और निष्पन्न होते हैं। निरुक्तकार ने वार्ष्यायणि द्वारा कहे गए छः भाव विकारों में 'अस्ति को दूसरा स्थान दिया है :—

'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।
जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते
विनश्यतीति' ॥

निरुक्त १/२

छः

अस्ति को भाव विकार कहना संगत नहीं। ऊपर दिये गये निरुक्त के उद्धरण का विवक्षित एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करके मैं अपनी मान्यता का पोषण करना वांछनीय समझता हूँ। उदय, आविर्भाव अथवा जन्म के साथ ही जिसको हम उषा कहने कहने लगते हैं वह वस्तुत: है क्या? क्या सबसे अधिक वेवलेंग्थ (तरंगदैर्घ्य) वाली अरुण वर्ण प्रकाश रश्मियों की अभिधा ही उषा है अथवा प्रतिपल बढ़ती घटती और फिर कौशेय, भगवे, ताम्र, नागरंग अथवा सिंदूर जैसे रंग में विपरिणत, वृद्ध, अपक्षीण और अन्ततोगत्वा वासन्ती सरसों जैसे स्वर्ण वर्ण के आविर्भाव तक अरुण से कम वेवलेंग्थ वाले किरण समूह की लीला के अतिरिक्त भी वह कुछ है। अरुण-सैन्दूर वर्ण वस्तुत: एक ही नहीं हैं फिर भी इनके लिये हम एक उषा शब्द का ही प्रयोग करते हैं। यदि अरुण-सैन्दूर (रेड-ऑरेंज) वेवलेंग्थ वाली किरणों को एक लाख छयासी हजार तीन सौ मील प्रति सेकेण्ड की गति से संचार करने वाले आलोक के संदर्भ में रखकर हम उषा सुन्दरी के रूप का सर्वेक्षण करने लगें तब विदित होगा कि एक सेकेण्ड के भी लगभग द्विलक्षांश कालमान की इकाई में उषा सुन्दरी वह उषा सुन्दरी नहीं रह जाती जो उससे पहली इकाई में होती है। हर परवर्ती इकाई की उषा सुन्दरी पूर्ववर्ती इकाई की उषा सुन्दरी से भिन्न है। भिन्नता की इन अन्तहीन भंगिमाओं में यह क्या है जिसको हम बार बार बराबर उषा, उषा, उषा कहते हैं। उषा एक प्रत्यय है जो हर भंगिमा में वर्तमान है, भंगिमाओं की अन्तहीनता में भी जो अनन्त है। भंगिमाओं की अन्तहीनता ही उसकी भूति है और स्वत: यह अनन्त प्रत्यय ही 'अस्ति' है। परन्तु इस अस्तित्व का संकेत क्योंकि उदय, जन्म अथवा आविर्भाव (जायते) के अनन्तर होता है इसीलिये षड्भाव विकारों के संख्यान में इसे दूसरे स्थान पर रख लिया गया है। जन्म, उदय अथवा आविर्भाव के अनन्तर मरण, अस्त अथवा तिरोभाव तक की अगणित परिणतियों में यह प्रत्यय वर्तमान रहता है। यह प्रत्यय यदि कल्पित बिन्दु है तब भी और यदि कुछ और है तब भी भाव विकार कदापि नहीं कहा जा सकता। भाव विकार के सूचक तो भंगिमाओं के अन्तहीन बिन्दु हैं।

'अस्ति' और 'भवति' पर्यायवाची नहीं हैं। दोनों अपने मूल धर्म में भिन्न हैं। परिणमन अथवा विपरिवर्तन के सातत्य का राहित्य ही अस्तित्व का उपलक्षण है। भूति का सातत्य भी जहां थम जाता है वहीं वह भूत अथवा अस्ति रह जाता है। 'अस्ति मन्दिर नाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंह:' के साथ जब हम कहानी पढ़ने लगते हैं तब 'था' अथवा भूत के लिए

अस्ति शब्द का प्रयोग देखकर विस्मित रह जाते हैं। अध्यापक हमें यही समझा कर किनारे कर देते हैं कि संस्कृत में अस्ति शब्द का प्रयोग कहानी में 'था' अथवा सुदूरवर्ती भूत के लिए होता है। परन्तु वास्तविकता कुछ और प्रतीत होती है। यह अस्ति क्या उस भूति का ही वाचक नहीं जिसके सातत्य की इति हो चुकी है? यही क्या स्पेस-टाइम अथवा भूति-काल (देश-काल) की सापेक्षता नहीं जो अस्तित्व से भिन्न है?

अपने स्थूल विस्तार में यह भव अभिन्न केन्द्रीय वृत्तों का चक्र है। चंद्रमा का परिक्रमण पार्थिव मण्डल में है, पृथ्वी का परिक्रमण सौर मण्डल में, सौर मण्डल का पुनः आकाशगंगा और आकाशगंगा का आगे पुनः उससे भी व्यापक डहरनिकरमण्डल में। प्रत्येक मण्डल अपने में विशिष्ट इकाई होते हुए भी किसी इतर बृहत्तर मण्डल का अन्तर्वर्ती सदस्य है।

जिस मन्दाकिनी में परमाणु जैसी प्रतीत होने वाली हमारी धरा है उसके आसपास उसी के अंगभूत उन तारावृन्दों की परिसम्विदाएँ हैं जिन्हें ग्लोबुलर स्टार क्लस्टर्स अथवा गोलाकार तारकनिकर कहा जा सकता है। पुनः इन निकरों के पार भी हज़ारों लाखों ऐसी मन्दाकिनियाँ है जो आकार प्रकार में भी विविध हैं। हमारी मन्दाकिनी के समकक्ष जो समीपतम मन्दाकिनी है उसे एण्ड्रोमीडा (देवयानी) की अन्तर्वर्तिनी महत्मन्दाकिनी (ग्रेट गेलेक्सी) कहा जाता है। यह मन्दाकिनी हमसे अनुमानतः बीस लाख प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। एक लाख छयासी हजार तीन सौ मील प्रति सेकेण्ड की गति से यात्रा करने वाला प्रकाश भी वहाँ पहुँचने में लगभग बीस भौतिक वर्ष लेगा।

ब्रह्माण्डवर्ती अगणित नाक्षत्र मन्दाकिनियों में से एक यह आकाशगंगा है जिसको अंग्रेजी में मिल्की वे कहा जाता है। यह इतनी विस्तृत है कि इसके व्यास पर धड़ाम धड़ाम सरपटाता हुआ एक रॉकेट एक लाख मील प्रति घण्टा की गति से इसके एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक अनुमानतः सड़सठ करोड़ वर्षों में पहुँच पायगा। हमारे अपने सौर मण्डल में ठीक इसी गति पर यात्रा करता हुआ रॉकेट सूर्य से दूरतम उपग्रह प्लूटो तक केवल चार वर्ष तथा दो मास ही लेगा।

अनेकानेक सौर मण्डलों में से एक के उपग्रह अपनी इस धरा के प्रति सापेक्ष होकर हम जब इन ज्ञात-अज्ञात मण्डलों के दृश्य-अदृश्य ज्योति पिण्डों के प्रकाशमात्र पर ही विचार करने लगते हैं तब विदित होता है कि इनमें प्रकाश का परस्पर आदान प्रदान भी संभाव्य है। इस तरह यह अवितथ

तथ्य है कि इन मण्डलों में सहज ही संचरित यह सप्तवर्ण प्रतीत होने वाला प्रकाश एक महनीय संपर्क सूत्र है। खगोल शास्त्री जब यह कहते हैं कि कुछ मण्डल ऐसे भी हैं जिनका प्रकाश अभी भी हमारी धरा पर पहुँचा नहीं है, कुछ ऐसे हैं जिनका प्रकाश करोड़ों वर्षों में यहाँ पहुँचता है तब एक ओर जहां प्रकाश और कालमान की सापेक्षता का द्योतन होता है वहाँ यह भी सूचित होता है कि जो प्रकाश हम देख रहे हैं वह अपने मण्डल से युगों पहले उत्सृष्ट हुआ था। हर मण्डल की इकाई से उत्सृष्ट प्रकाश कितना सुभग है कि वह अपने सहधर्मियों से सतत घुलता मिलता रहता है, अपने रहस्यमय संकेत प्रदान करता रहता है। प्रकाश का कालमान जो प्रकाश-वर्ष है वह प्रकाश की गति पर निर्धारित हुआ है। जब हम कुछएक मण्डलों पर पहुँचने में करोड़ों प्रकाश वर्षों की कल्पना करते हैं तब उस प्रकाश-कालमान के सामने हम पार्थिवों का सामान्य भौतिक कालमान कितना मन्द पड़ जाता है—यह आज किसी विवाद का विषय नहीं। काल और महाकाल का अन्तर इस से स्पष्ट हो जाना चाहिये। जो भौतिक विपरिणमन का वाचक है वह काल है परन्तु जो प्रकाश अथवा ज्योति के मूल अस्तित्व का प्रतिमान है वह महाकाल है। उज्जयिनी में महाकाल का हमारा मन्दिर इसी महाकाल को निवेदित है।

अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म इकाई में भव अब परमाणु भी नहीं रहा। परमाणु में भी उसका एक मूल केन्द्र और उस मूलकेन्द्र के आसपास के शून्य प्रदेश में दीर्घ वृत्ताकार कक्षा पर संचारी इलेक्ट्रॉन संज्ञक ऋणविद्युदणु वर्तमान है। वह क्षण कितना विलक्षण रहा होगा जब इन्च के करोड़वें भाग जितना परमाणु भी स्थूल भव के विराट मण्डल-व्यूह का एक सूक्ष्म मानचित्र ही सिद्ध हुआ होगा। सौर मण्डल में सूर्य की परिक्रमा में रत ग्रहगणकी तरह परमाणु के नाभि मण्डल में परिक्रमणशील ऋणविद्युदणु यदि अपनी संख्या में नाभिस्थ प्राणुओं अथवा प्रोटॉन अभिहित धनविद्युदणुओं की संख्या के साथ समान हैं तब सौर मण्डलों में भी ग्रहगणों की संख्या के समान संख्या वाले कोई गण क्या सूर्यस्थ नहीं होंगे? परमाणु की न्यूक्लियस कही जाने वाली नाभि, न्यष्टि अथवा बीजकेन्द्र में प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन नामक दो अन्य विधाएँ उस नाभि की घटक हैं। ऋणविद्युदणुओं का संधारण करने वाली जो वैद्युत् शक्ति इन इलेक्ट्रॉन्स को नाभि के आसपास घुमाती रहती है वह वस्तुत: ऋण-विद्युत्सम्पन्नता तथा धनविद्युत्सम्पन्नता की नर-नारी के परस्पर आकर्षण जैसी ही शक्ति है। परिस्थिति विशेष के अन्तर्गत इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन में विघटनीय न्यूट्रॉन वस्तुतः नाभि में ऋण और धन विद्युत्सम्पन्नता

की ही संसृष्टि है। प्रत्येक परमाणु में दीर्घवृत्ताकार कक्षा पर संक्रमणशील विद्युदणुओं तथा नाभिस्थ प्राणुओं की संख्या समान रहने पर भी दोनों के परिमाण में भेद है। प्रोटॉन (प्राणु) एवं न्यूट्रॉन का परिमाण (संहति) इलेक्ट्रॉन से लगभग १८३७ गुणा गुरुतर होता है।

परमाणु-विज्ञान से नाभि-विज्ञान पर पहुँच कर भी जब अणु की सूक्ष्मतम इकाई की खोज पुज नहीं पाई प्रत्युत और गहरी हो गई तब नाभि की शाश्वत स्थिति के आगे भी प्रश्न सूचक चिह्न लग गया। इस प्रश्न चिह्न के उत्तर रूप में रेडियो सक्रियता का सिद्धान्त प्रतिपन्न हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार कतिपय (विशेषतः गुरुतम) परिमाण वाले परमाणुओं की नाभियों में अस्थिरता का रहस्य उद्घाटित हुआ है। विदित हुआ कि न्यूट्रॉन तथा प्रोटॉन से संघटित अपने कतिपय कणों का उत्सर्जन इन नाभियों की प्रकृति है। उत्सर्ग के अनन्तर जो बच रहता है वह एक विशिष्ट और नूतन नाभि है। नाभि की यह भिन्नता ही परमाणु की भिन्नता और फिर तत्त्व की भिन्नता की विधायिका है। तत्त्वों का यह प्रकृत विघटन अथवा नैसर्गिक विखण्डन ही रेडियो सक्रियता कहा गया है। रेडियो सक्रिय अथवा रेडियो धर्मी परमाणु की विघटनशीला नाभि/न्यष्टि/बीजकेन्द्र का विकिरण त्रिधा है : अलफा कण, बीटा कण तथा गेमा किरण। अलफ़ा विकिरण में दो-दो प्रोटॉन-न्यूट्रॉनों से संघटित शृंखलागत कणों का उत्सर्जन परमाणु नाभि से होता है। बीटा विकिरण के अन्तर्गत परमाणु नाभि द्वारा इलेक्ट्रॉन अथवा ऋणविद्युदणु नाभिस्थ उस न्यूट्रॉन से आता है जिस के दशाविशेष में विघटित होने से प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन प्रकट होते हैं। गेमा विकिरण विद्युत्चुम्बकीय (प्रकाश तरंगों जैसी) तरंग है जो अपने दैर्घ्य में एक्स-किरणों से उसी प्रकार कम है जिस प्रकार एक्स-किरणें क्रमशः एक्स्ट्रा वॉयलेट, इण्डीगो, ब्लेक, ग्रीन, येलो ऑरेंज एवं इन्फ्रा रेड से कम तरंगदैर्घ्य वाली हैं। इस त्रिधा विकिरण के पहला अथवा दूसरा अथवा तीसरा अथवा कोई दो अथवा तीनों ही पक्ष रेडियो धर्मी परमाणु की नाभि में चरित हो सकते हैं। अतः यहां भी यह द्रष्टव्य है कि प्रत्येक अलफ़ा कण और बीटा कण परमाणविक अन्तष्परिणति ही है, विपरिणमन एवं विपरिवर्तनशील भव की भूति।

नाभि की अस्थिरता जहां उसके रेडियो धर्मी निसर्ग में स्फुट है वहां उसका विघटन अथवा विखण्डन एक ऐसी क्रान्तिक्रिया कहा जा सकता है जिस ने स्थूलातिस्थूल भव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दु के प्रति चिर अपेक्षित

इंगित प्रदान किया है। गरिष्ठ नाभि में जैसे ही विघटन होता है तभी वह दो नाभियों में विघटित होती है। ये नाभियाँ लघुतर परिमाण की विशिष्ट इकाइयाँ बनती हैं। अपने तीन न्यूट्रॉनों सहित इन इकाइयों की संहति (अंग्रेजी शब्द मास) मूल गरिष्ठ नाभि की संहति से परिमाण में कुछ कम उतरती है। इस से इंगित यह होता है कि मूल नाभिगत संहति का जो अंश उस नाभि की विपरिणतियों से विलुप्त हुआ है वह ताप अथवा शक्ति में परिणत हो गया है।

प्रयोगशालागत प्रक्रिया ने नाभि-विघटन द्वारा संहति-शक्ति की सापेक्षता का जो परीक्षण अब चरितार्थ किया है उसका गाणितिक संख्यान ईस्वी सन् 1905में ही अलबर्ट आइन्स्टीन महोदय द्वारा हो गया था। आइन्स्टीन के अनुसार प्रकाश की प्रति सेकेण्ड गति के वर्ग के साथ संहति के गुणन का जो प्रतिफल है वही शक्ति है [$E=Mc^2$].

शक्ति-संहति की उपर्युक्त सापेक्षता द्वारा अस्तित्व-भूति की सापेक्षता का ही वाचन होता है। संहति में शक्ति के विवर्तन का जो आदि बिन्दु है उसीको मैंने ज्योति का क्षितिज कहा है। शक्ति का विवर्तन होने के कारण भूति को शक्ति की संपदा स्वीकार करने में संकोच नहीं रहना चाहिये। यहीं भूति के 'ऐश्वर्य' अर्थ की संगति समझ आती है। शक्ति यदि ईश्वर है तो उसकी विवर्तनशीलता में घटित भूति उसका ऐश्वर्य है।

विज्ञान के समानान्तर दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्व और भूति के संदर्भ में जो क्रान्ति घटित हुई है उसका सम्बन्ध योगिराज अरविन्द की प्रतिपत्ति के साथ है। हमारी वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध में अपनी प्रातिभमेधा-सम्पन्न क्रान्तदृष्टि से व्यक्त-स्थूल तथा व्यक्त-सूक्ष्म सृष्टि के साथ अव्यक्त सत्य का कार्य-कारणगत सम्बन्ध उद्घाटित करने की दिशा में श्री अरविन्द ने न केवल दर्शन, विज्ञान एवं कला की प्राच्य-प्रतीच्य उपलब्धियों का सम्यक् संतुलन, संकलन और समन्वय ही किया अपितु भूति के स्फीति-संकोच की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत की जिससे भारतीय चिन्ताधारा की अनेकानेक विसंगतियों का समाधान भी स्वतः हो गया। सृष्टि के मूल पर विचार करता हुआ नैयायिक जहाँ परमाणु तक ही पहुँच कर 'पीलवः' 'पीलवः' रटता हुआ आरंभवाद में सीमित हो जाता रहा वहाँ सांख्यवादी विकृति से मूल प्रकृति और प्रकृति के समानान्तर पुरुष दोनों को पृथक् सत्य मान कर सत्कार्यवाद तक पहुँचता रहा। विज्ञान की आधुनिक उपलब्धि के आलोक में हम यह कह सकते हैं कि न्याय वैशेषिक परमाणु से भी परवर्ती उस मूल प्रकृति तक नहीं

पहुँच सके जो इलेक्ट्रॉन तथा नाभिस्थ प्रोटॉन-न्यूट्रॉन में विविक्त है। ईश्वरचन्द्र एवं कपिल प्रभृति सांख्यकारों ने मूल प्रकृति को जहाँ सत्त्व-रज-तमोगुणमयी विकृतियों की साम्यावस्था कहा और गुण विक्षोभ अथवा गुणपरिणाम को ही विकृति के माध्यम रूप में प्रतिपादित किया वहीं उन्होंने गुण-विक्षोभकारी एक ऐसे तत्त्व की परिकल्पना की जो प्रकृति की ही तरह पृथक् इकाई और सत्य है। आधुनिक नाभि-विज्ञान ने हमें अभी यही बताया है कि एक दशाविशेष में न्यूट्रॉन क्रमशः इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन में विघटित होता है परन्तु प्रश्न यह है कि वह दशाविशेष क्या है? गुरुतर नाभि-विखण्डन में जो विकिरणक्रिया नाभि के स्थिर न रह सकने की सूचना देती है वह क्या स्वैर है अथवा परैर? मूल प्रकृति यदि संहति अथवा मास (mass) है तब शक्ति अथवा इनर्जी उसको विक्षुब्ध करती है। सांख्यकार यदि संहति की शक्ति में विवर्त्तनशीलता और इसके विपरीत शक्ति के संहति में विवर्त्त से अभिज्ञ होता तब वह प्रकृति के समानान्तर पुरुष तत्त्व का परिकल्प न करता। यहीं वेदान्त के ध्वजधर गौड़पाद एवं शंकर द्वारा प्रतिपादित विवर्त्तवाद का विनियोग संभाव्य है। संहति में विवर्तित इनर्जी ही यदि देशस्थ हो कर नाभि और इस प्रकार उस परमाणु में विन्यस्त होती है जो क्रमशः अणु और द्रव्य (मॉलिक्यूल और एलिमेण्ट) में विपरिणत होकर सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय भौतिकता के जड़-चेतन प्रतीत होने वाले खण्डों में उत्तरोत्तर घटित होता जाता है तब इस तथ्य में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रह जाता कि विवर्त्त-परिणाम एवं आरंभ एक ही प्रक्रिया के देशस्थ बिन्दुओं के वाचक हैं। श्री अरविन्द ने देश-कालातीत विशुद्ध सत् की भूमिका में देश और काल के मध्य सान्त और अन्तहीन जिस उभयात्मक गति की रूपरेखा प्रस्तुत की है उसके लिये उन्होंने अवरोहण-आरोहण अथवा निवर्तन विवर्तन प्रक्रिया अपनाई है। निवर्तन अथवा अवरोहण के अनुसार सत् क्रमशः चित्, आनन्द, अतिमानस, जीव और प्राण में अवरोहण करता हुआ अन्ततः जड़ में निवर्तित हो जाता है। विवर्तन में वही पुनः जड़ से क्रमशः प्राण, जीव, अतिमानस, आनन्द और चित् में आरोहण करता हुआ सत् हो जाता है। यह सत् ही क्या अस्तित्व का वाचक नहीं जिसके निवर्तन-विवर्तन का भाव ही भूति है। भूति वस्तुतः सत् का ही ऐश्वर्य है। नाभिविज्ञान की अधुनातन उपलब्धि के आलोक में श्री अरविन्द दर्शन के प्रति भी एक शंका यह अवश्य उठती है कि निवर्तन अथवा अवरोहण की प्रक्रिया के अनुसार जड़ में निवर्तित सत् उस जड़ से भी परे का कुछ वैसा क्यों नहीं बनता जिसके लिये वैज्ञानिक शक्ति अथवा इनर्जी शब्द का प्रयोग करता है और श्री अरविन्द

ने स्वतः जिसको चित् शक्ति स्वीकार करते हुए माता कहा है। अस्तित्व में वही परात्पर है, मूर्ति में वही सृष्टि और जीव है। 'अस् भुवि' तथा भू सत्तायां' का भेद भी इसी प्रकार अवस्था का भेद है।

मूल प्रकृति अथवा परा प्रकृति अथवा नाभि-संहति (न्यूक्लियस्मास) से भी परे का जो चित् अथवा ज्योति पुरुष है उसके लिये निर्गुण निराकार अथवा उत्तम पुरुष अथवा परमात्मा अथवा महाकाल शब्दों का व्यवहार वांछनीय है। इसी प्रकार जो चित् संहतिस्थ अथवा दशाविशेष में नाभिस्थ संहति से इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन में विखण्डित होने वाला शक्ति रूप है वही सगुण निराकार है। सत्त्व-रजस-तमस तीनों गुणों का विक्षोभ उसीसे होता है। रेडियो सक्रियता में रेडियो धर्मी नाभि से जो अलफ़ाकण बीटाकण तथा गेमा किरणें उत्सृष्ट होती हैं वही क्या गुणक्षोभ तो नहीं? उपनिषद् में लिखा है।

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां स रूपाः
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुषेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति ॥
—वही-४।६

पहले श्लोक के अनुसार: लोहित-शुक्ल-कृष्ण वर्ण की एक बकरी है। वह बहुविध रूपों वाली अनेक प्रजाओं को जन्म देती है। इस बकरी का उपभोग करता हुआ एक बकरा इसके साथ शयन करता है जबकि दूसरा इस भुक्तभोगा से तटस्थ रहता है।

दूसरे श्लोक के अनुसार: दो पक्षी हैं। वे सयुज हैं, सखा हैं। एक ही पेड़ पर उनका बसेरा है। उनमें से एक पीपल को स्वाद से खाता है जबकि दूसरा बिना आहार किये उसको घेर कर बैठा हुआ है।

पहले श्लोक में जो अजा और अज शब्द आए हैं वे मात्र बकरी और बकरे के वाचक मान लेने पर किसी संगत अर्थ पर नहीं पहुँचाते। जो जन्म नहीं लेते, जो अनादि हैं वही अजा और अज हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहने के साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि विकार और गुण प्रकृति से ही संभूत हैं:

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान् ।
१३।१९

विकार और गुण से ही विपरिणमन द्वारा प्रकृति जिसमें परिणत होती जाती है वही वेदान्ती द्वारा अनुमोदित विवर्त और सांख्यकार द्वारा प्रतिपादित विकृति है। विकृति ही बहुविध अनेकरूपात्मक प्रजाएँ हैं जो न्यूक्लियर-फिशन अथवा नाभि-विखण्डन द्वारा संघटित होती हैं। सबसे हलके द्रव्य उद्जन के परमाणु की नाभि में एक प्रोटॉन तथा उस नाभि का अभिसारी (ऊपर श्वेता० ४।६ के 'अभिचाकशीति' से संतुल्य) एक ही इलेक्ट्रॉन होता है। इस नाभि को यदि मूल प्रकृति कहा जाय तब धन विद्युत्सम्पन्न अणु अथवा प्राणु को इसके साथ सोने वाला अज ही कहा सकता है जबकि इस नाभि के आसपास एक निश्चित दीर्घ-वृत्ताकार कक्षा में चकराने वाला ऋणविद्युदणु ही दूसरा अज है। श्रीमद्भगवद्गीता में ही पुरुष को प्रकृतिस्थ कहा गया है (पुरुषः प्रकृतिस्थो हि—१३।२१)। मूल प्रकृति में प्रकाश की परस्पर सापेक्ष ऋण-धन दोनों इकाइयों की जो दशा है क्या वही प्रकृतिस्थ पुरुष की सूचिका नहीं? श्रीमद्भगवद्गीता में ही यह पुरुष तीन प्रकार का कहा गया है: क्षर, अक्षर तथा उत्तमः

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
१५।१६-१७

क्षर तथा अक्षर को क्या हम क्रमशः धन एवं ऋण विद्युदणु नहीं कह सकते? यही यदि प्रकृतिस्थ पुरुष है तो उत्तम पुरुष अथवा परमात्मा वह निर्गुण निराकार ही है जो प्रकृतिस्थ नहीं है, विशुद्ध इनर्जी मात्र है, परात्पर चित्शक्ति अथवा महाकाल। उपनिषद् के दूसरे श्लोक में वृक्ष यदि परमाणु की नाभि-संहति है तो दोनों पक्षी क्रमशः क्षर-अक्षर प्रकृतिस्थ पुरुष के ही वाचक हैं। स्वाद से पीपल का उपभोग ही सुख-दुःख का वह भोक्तृत्व है जिसका हेतु प्रकृतिस्थ पुरुष है:

कार्य-कारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
वही-१३।२०

काल और महाकाल क्रमशः भूति एवं अस्तित्व के प्रतिमान कहे जाने चाहिएँ। भौतिक वर्ष और प्रकाश वर्ष इसी भेद पर आधारित हैं। 'भौतिकों का स्रष्टा और प्रजाओं का संहर्ता काल' (प्ररोह में ही पृ०चार) वस्तुतः महाकाल ही है। संहति का इनर्जी अथवा परब्रह्म में प्रलय होते ही भूति का विवर्तन-विपरिणमन समाप्त हो जाता है। इस समाप्ति के साथ ही भौतिकता के प्रतिमान काल का भी प्रशमन हो जाता है तभी शुद्ध चित् के प्रतिमान महाकाल में उसका प्रलय होता है। यही काल द्वारा काल का शान्त होना है।

द्वा सुपर्णा' की ही तरह दक्षिण भारत में पक्षी तीर्थ के विहगद्वय नल-नील अथवा प्राचीन मिश्र देश द्वारा अनुमोदित खग-युग्म बाइ-इख क्या संकेत प्रदान करते हैं, इन संकेतों में सम्बन्धों की कौन सी घनिष्ठता प्रतिष्ठित है—यह सब कौतुहल कारक भी है और मानव की समग्रगति के प्रत्यभिजिज्ञासु के लिये आमंत्रण भी।

वैदिक और परवर्ती वाङ्मय में जगत के स्वरूप को बार-बार जहाँ अग्नि-षोमीय कहा गया है वहाँ प्रश्न पैदा होता है कि ये अग्नि सोम हैं क्या?

अग्नीषोमौ परमांकाष्ठामगच्छताम्

—तैत्तिरीय संहिता १।६।६।२

द्वयं वा इदं जगत् न तृतीयमस्ति।

आर्द्रं चैव शुष्कं च, यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्

—शतपथ ब्राह्मण १।६।३।२३

अग्नीषोमात्मकं जगत्

—बृहज्जाबालोपनिषत् २।३

—रुद्रहृदयोपनिषत् २।३

वायु पुराण, उत्तर भाग ३५।५१

अग्नीषोमौ जगत्कृत्स्नम्

—महाभारत, कर्ण पर्व ३४।४६

अग्नीषोमात्मकं चैव जगत्स्थावरजंगमम्

—हरिवंश पुराण, १०।६६६

अग्नीषोमात्मकं विश्वं जगत्

—शिवमहापुराण, वायु संहिता २४।२०

द्विविधात्मक एव (लोकः) आग्नेयः सौम्यश्च

—सुश्रुत, सूत्रस्थान १।२१।२२

अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः

—सुश्रुत, सूत्रस्थान ४२।६ (७)

इसी प्रकार अनेकानेक ग्रन्थों में अग्नि को ब्रह्म तथा सोम को क्षत्र कहा गया है:

ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रं सोमः (कौषीतकि ब्राह्मण ६।५)

ब्रह्मक्षत्रं अग्निषोमीयं तेन जगद्धार्यते

—महाभारत, कुम्भघोण संस्करण, शान्तिपर्व ३२३।६६६

जैमिनीय ब्राह्मण (१।७८) में जगत् को ब्रह्मक्षत्रमय कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण (४।१।४।१) में ब्रह्म को मित्र तथा क्षत्र को वरुण (ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः) कहा गया है। इस सब से क्या सूचित होता है? अग्नि-सोम, ब्रह्म-क्षत्र, मित्र-वरुण सभी स्थावर-जङ्गम सृष्टि में विपरिणत अथवा विवर्तित किन्हीं दो मूल करणों के ही क्या वाचक नहीं? यही क्या सांख्यकार की मूल प्रकृति और गीता के अक्षर पुरुष नहीं? यह ब्रह्म अथवा अग्नि ही क्या नाभिस्थ प्राणु नहीं जिसका परिवर्ती ऋण विद्युदणु है और जिसकी नाभिगत संहति ही सोम है? स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि का यह अव्यक्त मूलबिन्दु यदि विज्ञान के अधुनातन आलोक में स्पष्ट हो रहा है और भारतीय चिन्ताधारा का एक सलक्षण एवं समग्र मानचित्र उद्घाटित कर रहा है तब उसके लिये वैज्ञानिक के प्रति कृतज्ञ होना वांछनीय ही है। दर्शन और विज्ञान के इन आवर्त्त-विवर्त्तों में भाव एवं आशय के जो नवीन क्षितिज उभर रहे हैं उनका अभिनन्दन और स्वस्तिवाचन उस कलाकार द्वारा ही अपेक्षित है जो स्वतः भी मनीषा का वरदपुत्र और भौतिक आवर्त्त विवर्त्तों का मुखर पिक होता है।

विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों, प्रतिपत्तियों एवं निष्पत्तियों के साथ भारतीय चिन्ताधारा की संगति के सन्दर्भ में मन्दिरों के मिथुन-प्रतीकों का उल्लेख नितान्त अनिवार्य है। सांख्य के अनुकरण पर श्रीमद्भगवद्गीता (७·३) में विकृति की वाचक जिस अष्टधा अपरा प्रकृति का उल्लेख हुआ है उसी को स्थूल, विश्व एवं विराट कहा जाता है। मिथुन प्रतीक में उसे कमल के अष्टदल द्वारा प्रकट किया जाता है। यह अष्टदल स्वतः कमल के जिस वृत्त पर पुनः पुनः खुलता और मुंदता है वही अभिन्ना समस्त प्रकृति है। मिथुन प्रतीक में यह वृत्त सूक्ष्म, तैजस एवं हिरण्यगर्भ का वाचक प्रतीक है। यह वृत्त वस्तुतः अष्टदल कमल की नाभि है। इसी प्रकार नाभि का मूल बिन्दु मिथुन-प्रतीक में पर, प्राज्ञ और ईश्वर का

प्रतीक बिन्दु है। बिन्दु से नाभिवृत्त और नाभिवृत्त से अष्टदल में परिणमन का प्रतीक यह अष्टदल कमल है। परन्तु जिस ज्योतिकिरण के संसर्ग से कमल खिलता है उसके बिना मूलबिन्दु से दल तक का परिणमन संभव नहीं। यही कारण है कि ज्योतिकिरण जैसी संजीवनी शक्ति को मिथुन प्रतीक में संहति-ऊर्जा (Mass-energy) का सन्धि बिन्दु कहना चाहिए। जहाँ शक्ति अथवा ऊर्जा विवर्तित होकर संहति बनती है वही बिन्दु है। नाभिस्थ न्यूट्रॉन का अवरछोर उसे कहा जा सकता है। चित् अथवा ऊर्जा (इनर्जी) के संचरण का यह बिन्दु ही अव्यक्त, अभिन्ना, समस्त प्रकृति के भिन्ना अष्टधा-प्रकृति में पद्मदल सदृश विवर्तन अथवा विपरिणमन का आधार है। इसी चित् से संपृक्त रहने के कारण अष्टधा-प्रकृति आठमिथुनों में प्रकट होती है। अग्नि-सोम, ब्रह्म-क्षत्र एवं मित्र वरुण प्रभृति मिथुन क्या हैं ? जिस प्रकार विवर्त्तन एवं विपरिणमन की प्रत्येक भंगिमा के साथ संहति-ऊर्जा एक अभिनव मिथुन में प्रकट होती है उसी प्रकार ये अग्नि-सोम, ब्रह्म-क्षत्र, मित्र-वरुण, दोनों अश्विनी कुमार, अजा-अज, द्वा सुपर्णा विवर्त्तन एवं विपरिणमन की भंगिमाओं के सूचक क्यों न मान लिये जायँ ? इन मिथुनों को विकासवाद एवं भारत में विविध जातियों के सम्मिश्रण के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने से स्यात् कुछ निष्कर्ष निर्धारित हो सके। अभी तो वक्तव्य यही है कि अभिन्ना समस्त प्रकृति का मूल बिन्दु अपनी निष्क्रिय, निस्पन्द एवं निर्विकल्प दशा में 'अकुल-शिव' कहलाता है। इसके विपरीत अपनी सजग, विपरिवर्तमान एवं विपरिणमन-शील दशा में वही जिस शक्ति से प्रशस्त होता है उसकी संज्ञा 'कुल-शक्ति' है। कुल-शक्ति और अकुल-शिव का अर्द्धनारीश्वर युग्म वस्तुतः ऊर्जा-संहति युग्म ही है।

भव के स्थूल एवं सूक्ष्म का आरोहण-अवगाहन विक्रम की बीसवीं-इकीसवीं, ईसा की बीसवीं, शक की उनीसवीं अथवा हिज्री चौदहवीं शताब्दी में जिन ऊँचाइयों-गहराइयों शिखरों-तलहटियों अथवा घाटियों-गुहाओं को गुहार पजार आया है उनका विवरण रोमांचकारी भी है और विकास-विनाश की संभावनाओं में बीभत्स भी। विकास की संवादी संभावनाएँ जहाँ आमंत्रण हैं, वहाँ विनाश की विसंवादी संभावनाएँ चुनौती हैं। यह आमंत्रण और चुनौती न केवल पृथ्वी नामक इस उपग्रह के कर्णधार दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलाकार के प्रति ही है अपितु सबसे पहले इसका सम्बन्ध व्यवस्था और प्रशासन के उन सूत्रधारों के साथ है जिनकी मूर्खता, कुत्सा एवं कुण्ठा निमिष मात्र में विकास की संभावनाओं को निर्जीव कर सकती है।

अस्तित्व एवं भूति के इस उभय पक्षीय यथार्थ को परत: प्रामाण्य बनाने की अपेक्षा भूति एवं भौतिकता की उपेक्षा करने वाला अध्यात्मवादी और अस्तित्व अथवा आस्तिकता की अवज्ञा करने वाला भौतिकवादी दोनों ही एकांगी अतिवादिता के शिकार हैं। यही कारण है कि भारतीय मिथुन अथवा युगल-विद्या के अनुसार भ्रूमध्य के सम्मुख अकुल-शिव तथा कुल-शक्ति को मिला कर तत्वमय ज्योति के ध्यान का विधान है :

शक्तिद्वय पुटान्तःस्थं लक्ष्द्वय सुसंस्थितम्
ज्योतिस्तत्त्वमयं ध्यायेत् कुलाकुल नियोजनात्।
—श्यामा रहस्यतन्त्रम्, जीवानन्द, कालिकता १८९६ पृ. ३२

अकुल-कुल, शिव-शक्ति का ध्यान यदि हमें मूल प्रकृति अथवा गुणों की साम्यावस्था के उस छोर तक ले जाता है जहाँ ऊर्जा अथवा इनर्जी कही जा सकने वाली इच्छा शक्ति अपने वर्तन की सामान्यता (आवर्तन) से पृथक् होकर संहति में विशिष्ट (विवर्तन) होने लगती है वही ज्योति का क्षितिज है। परमाणु के शून्य अन्तराल में नाभिस्थ प्रोटॉन-न्यूट्रॉन की संहति का उल्लेख पहले किया जा चुका है*। इनर्जी के इसी विवर्तन से संहति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और नाभि गुरुतर होती जाती है। गुरुतर नाभियों में विखण्डन होने लगता है। इस दृष्टि से नाभिस्थ प्राणु को विष्णु अथवा लोहित-रजस, अकुलाणु अथवा न्यूट्रॉन को शिव अथवा कृष्ण-तमस और न्यूट्रॉन में संघटित ऋण-धन-विद्युदणु की ज्योति(ऊर्जा-इनर्जी) को ब्रह्मा अथवा शुक्ल-सत्व कहना ही समीचीन है। प्रकृति में विकृति अथवा गुणविक्षोभ से पहले की साम्यावस्था का अन्तिम छोर अथवा अवर बिन्दु ही मेरे लिये ज्योति का क्षितिज है। न्यूट्रॉन द्वारा नाभि का विखण्डन ही शिव के तीसरे नेत्र का खुलना है। दो नेत्र (ऋण-धन) तो समाधि की साम्यावस्था अथवा निष्कृति में निमीलित रहते ही हैं। अत: यहाँ यह भी स्वत: स्पष्ट है कि सांख्यानुमोदित मूलप्रकृति ही लोहित-शुक्ल-कृष्णा अजा कैसे है।

विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के आलोक में भारतीय चिन्ता धारा को समझने का मेरा यह उपक्रम अकारण नहीं है। जो चिन्ताधारा जातियों के इस महाम्बुधि में आर्य, द्रविड़, यक्ष, गंधर्व प्रभृति अनेकानेक देवताओं को अपने विवर्त्त बनाती गई वह चिन्ताधारा आज भी शिव की जटाओं से निचुड़ कर बहती हुई गंगा की तरह (अब तो इस प्रतीक का पुनीत अर्थ भी अस्पष्ट नहीं रहना चाहिये) बुदबुद ऊर्मियों जैसी कोटिश: भंगिमाओं वाले यहाँ के जन जीवन में जिस प्रकार विवर्तित है, साकार और स्वरित है उसके सलक्षण

*यही संहति न्यूक्लियर-मास है, अकुल-शिव।

उदाहरण पंजाब में ही मैंने अनेक बार पाए हैं। एक ऐसे ही अतीव संगत एवं सजीव उदाहरण से इन्हीं दिनों मैं कृतार्थ हुआ हूँ। पुनः बँट कर अब और भी संकुचित हो गये पंजाब की नवसीमान्तवर्तिनी शिवालक (बाबर द्वारा सवालख और गुर्जर-आर्भीर जातियों द्वारा सपादलक्ष कही गई) शैलमालाओं के पगतल में बसे होशियारपुर के उपान्तवर्ती सार्थकनाम साधु आश्रम में इन दिनों मेरा आवास है। इस आवास से लेकर पर्वत मालाओं तक फैली हुई धरा पर वैदिक वनदेवताओं (देवता-स्त्रीलिङ्) के साथ सलील शिशिर का पर्व मैं इन दिनों देखा करता हूँ। कटि-प्रदेश पर हरित चूनर कसकर नाचती गाँव की ऊर्ध्वबाहु युवतियों जैसी श्याना सरस ईखों के अवार फलों का उपहार लिये खड़े गाँव के पर्वरत युवकों जैसे श्याम रसिक अमरूदों के उपवन इन दिनों अपनी मस्ती में हैं। अमरूदों के इन उपवनों के ठेकेदार—राखे पाहरुओं का हो-हो स्वर प्रायः फ़िल्मी धुनों में तो कभी किसी लोकधुन में भी गूँज जाता है। एक ऐसी ही लोकधुन अभी दो दिन पीछे प्रभात की वेला में प्रभाती की तरह मेरे कर्ण-कुहरों में गूँज गई :

अपणे स्वामी दा जनम दिन आ गया
देख के सोहणा चन्द शरमा गया
नच्चण चकोर, नच्चे पुण्णया दी चाँदनी
सतगुर साँवें पै गये कुदरत माणदी
उण्हाँ दा सी भाणाँ. उण्हाँ नूं पा गया
अपणे स्वामी दा जनम दिन आ गया !

'अपने स्वामी का जन्म दिन आ गया, उसी स्वामी का जिस को देखकर शोभन चाँद भी लजा गया। चकोर भी नाचने लगे, पूर्णिमा की चाँदनी भी नाच उठी। सतगुरु साम्य पड़ गये, प्रकृति उनको मानती है। (जन्म में) यह उनका भान ही था जो उनको पा गया···'

सत् का भाव सत्त्व है, ब्रह्म। संहति का विषय है गुरुत्व। सत् जहाँ से गुरु होने लगता है वह बिन्दु (मिथुन-प्रतीक का उपर्युक्त बिन्दु) सत्गुरु है। नाभिस्थ संहति (न्यूक्लियरमास)अथवा सांख्यकार की भाषा में मूल प्रकृति में गुणों का (विक्षोभ का अभाव होने के कारण) साम्य पड़ जाना ही सत्गुरु का 'साँवें पै' जाना है।

श्रीमद्भगवद्गीता वाली अपरा प्रकृति ही वह कुदरत है जो इस सतगुरु का मान (मापने का यन्त्र) है। भाणाँ वस्तुतः भान है। प्रतीति अथवा प्रदीप्ति के अर्थों में 'भा' धातु से ही भान बनता है। भारतीय

चिन्ताधारामें इस 'भा' धातु (भाति) को अस्ति के साथ उसके वाचक रूप में जोड़ने की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष है :—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥

—सरस्वती रहस्योपनिषत् । २३

अस्ति, भाति, प्रिय रूप और नाम—इन पाँच अंशों वाला जो भी है वह प्रथम तीन अंशों में ब्रह्म रूप है और अन्तिम दो में माया रूप ।

अस्ति के स्तर पर जो अव्यक्त, निर्गुण-निराकार, उत्तम-पुरुष अथवा परब्रह्म है वही भाति के स्तर पर सगुण-निराकार, मूल-प्रकृति, अक्षर-पुरुष, ब्रह्म अथवा सतगुरु कहा जाना चाहिये । अस्ति के स्तर पर जो पर, प्राज्ञ अथवा ईश्वर है वही भाति के स्तर पर सूक्ष्म, तैजस अथवा हिरण्यगर्भ है :—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

—ऋग्वेद १०।१२१

गुण-विक्षोभ से ही आकर्षण का प्रवर्तन संभव है । इस आकर्षण को हम ऋण-धन-विद्युत्सम्पन्नता की परस्पर संधारणशक्ति एवं गुरुत्व शक्ति में प्रतिष्ठित पाते हैं । यही प्रिय है । नाम-रूप की माया जहाँ वेदान्तवादियों का दिया हुआ शब्द है वहाँ उसी का वाचक विकृति शब्द सांख्यवादियों की देन है । इसी प्रकार मिथुन प्रतीक में स्थूल अथवा विराट भी इसी भाव के वाचक हैं । गुणपरिणाम का गुण साम्य में पहुँचना जिस प्रकार विकृति का अपनी मूल प्रकृति को प्राप्त हो जाना है उसी प्रकार 'भान' का 'भाति' को प्राप्त हो जाना भी 'भाति के भाणे' का उसमें प्रलीन हो जाना है । इस तरह भाति का नाम, रूप एवं गुण में स्फीति-संकोच ही उसका 'भान' अथवा 'भाणा' है । किसी की मृत्यु पर पंजाब में जब यह कहा जाता है कि 'वे ज्योति-ज्योत समा गए' तब कौन जानता है कि अजाने में यह क्या कह दिया गया है । मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत के 'बहुत जोति ओहि जोति भई' के मूल आशय तक पहुँचने के लिये अथवा गोस्वामी तुलसीदास कृत मानस के 'भव-भव विभव पराभव कारिनि, विस्व बिमोहिनी स्वबस बिहारिनि' का आस्वादन करने के लिये भारतीय जनजीवन को आज भी अभिषिक्त कर रही परन्तु विशिष्ट वी. आई. पी. व्यवस्था द्वारा उपेक्षित भागीरथी का अवगाहन ही अपेक्षित है । जो यह तप नहीं कर सकता वह और कुछ भी हो जाय भारतीयता का उन्नायक नहीं हो सकता ।

यह सब अर्थ आज भी जिस शब्द (निर्गुण ज्ञान मार्ग में 'सबद') में सुरक्षित

है उस शब्द को अमरूदों के उपवनों में अशिक्षित पाहरुए आज भी दुहराते हैं। ये पाहरुए ही भारतीयता के पाहरुए रह गए हैं, इन पाहरुओं में लहराता जन-जीवन ही अब भारतीयता का सप्तसिन्धु रह गया है, त्रिवेणी, महानदी, गोदावरी, कृष्णा-कावेरी भी अब वही है, अमरनाथ का हिमानी शिवलिंग भी वही। उत्तर दिशा का देवतात्मा* और कन्याकुमारी का सिन्धु तीरवर्ती शिलाखण्ड भी वही है क्योंकि भारतीयता के अर्थ की इस स्रोतस्विनी से कोसों दूर पड़े हुए हमारे नगर, क्लब-होटल के अधिष्ठान, व्यवसाय-केन्द्रित साम्राज्यवादी शिक्षा व्यवस्था के मुहरे, यूरोप अमेरिका की मूलचेतना को चीन्हे बिना उनके बाहरी रंगढंग की अन्धी नकल करके धन्य हो रहे सभ्य' संस्कृत' और 'आधुनिक' 'वी. आई. पी.' वर्ग इस चिन्ताधारा के मन्दिर-गुरुद्वारों को अपने कुत्सित व्यावसायिक स्वार्थों में होम करते चले जा रहे हैं।

'क्षितिज', 'ज्योति का क्षितिज', 'ज्योति', 'राजीव', 'कमल', प्रभृति प्रतीकों का प्रयोग मैंने भारतीय चिन्ताधारा के जिन संदर्भों में किया है उनके स्पष्टीकरण का प्रयास मैंने पूर्वोक्त पंक्तियों में किया गया है :—

चेतना हो तुम, मुझे छू—
कर बनाया जीव तुम ने
नयन का संजय बनाया
पंक का राजीव तुम ने
अभी तुम मत लौट जाना
हाय, मैंने; जाग कर भी
क्या नहीं जग को जगाना
नींद का तम मैं क्षितिज को सौंप आऊँगा
भोर का बन कर उजाला फैल जाऊँगा! (पृष्ठ ७)

अथवा

ज्योति के जिस क्षितिज पर मैं
तिमिर उर का वार आया।

---

*अस्ति उत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य
स्थितः पृथिव्याः इव मानदण्डः।
—कालिदास

श्वास की वर्ती जला कर
जलन का उपहार लाया !!

ज्योति के उस क्षितिज में मैं
मोम तन का घोल दूँगा
भेद मन का खोल दूँगा
नींद टूटेगी तिमिर को ज्योति जब चुग जायगी
विश्व मंदिर में पुजारिन साधना पुग जायगी ! (पृष्ठ ९)

विश्व शब्द भी यहाँ मिथुन-प्रतीक में विराट और स्थूल के पर्याय रूप में प्रयुक्त है। धरती के इस उपग्रह पर विकसित ऊर्ध्वप्राणीनिकाय अथवा हायर-ऑर्गनिस्म ने रूप और नाम अथवा वाक् का पर्व ज्यों-ज्यों मनाया है त्यों-त्यों इस पर्व को मनाने की लालसा और बलवती होती गई है। इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का सहचार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। चाँद पर पहुँचना, उतरना, बसना ही आज अभीष्ट नहीं उससे आगे के लोकों को समझना, सोधना और अपनी पहुँच में लाना भी उद्दिष्ट है। इस सबके लिये धरती पर अपना सन्तुलन बनाए रखना भी कम वांछनीय नहीं। निम्नगा शक्तियाँ धरा पर आज भी अन्तरिक्ष भेदिनी ऊर्ध्वगा शक्तियों के साथ लोहा ले रही हैं। अस्तित्व और भूति के अभिनव आयामों के उद्घाटन की संभावना जहाँ भू-मानव की अन्तरिक्ष-मानव में परिणति के सुकुमार संकेत देरही है वहाँ निमिषमात्र में इच्छा एवं क्रिया, चिन्तन एवं प्रयोग के शत-शत संस्थानों के स्वाहा हो जाने की दुश्शंका भी लपलपा रही है। विकास-वादी प्रक्रिया पर आँख रखते हुए संभावना तो यही की जा सकती है कि ऊर्ध्वगा शक्तियाँ निम्नगा शक्तियों पर अभिभावक होंगी ही, कि तारिका जटित आकाश की रहस्यलीला का उन्मुद्रण होगा ही कि स्थूल विश्व कीइदन्ता एवं इयत्ता का मानचित्र बनकर रहेगा ही परन्तु आशंका भी कम गहरी नहीं।

रहस्य के अनेक अर्थों में से एक अर्थ यदि सापेक्षता के आधार पर यह स्वीकार कर लिया जाय तब अधिक संगत है कि जीव के कौतूहल का का वह विषय रहस्य है जो अभी उसके लिये अगोचर है जिसका वह अभी अनुमान ही कर सकने में समर्थ है अथवा जिसके लिये वह संबोधि अथवा प्रातिभ ज्ञान के साथ-साथ तर्क अथवा प्रमाण का ही सहारा लेरहा है और जो उसके लिये अभी स्वतः प्रामाण्य अथवा प्रत्यक्ष नहीं। 'अस्ति' का रहस्य तो दूर की बात, भूति का रहस्य ही हमारी प्रत्यभिजिज्ञासा को किस तरह नाच नचा रहा है—यह भी केवल ज्ञान विज्ञानमय कोष के जीवों के लिये

ही स्पष्ट है। निम्नप्राणीवर्ग के लिये हमारा ऊर्ध्वप्राणीवर्ग स्यात् उसी प्रकार एक अभेद्य रहस्य है जिस प्रकार ऊर्ध्वप्राणीवर्ग के लिये जीवन के और ऊर्ध्वोन्मुख स्तर। वैज्ञानिक जब यह कहते हैं कि शायद शुक्र अथवा बृहस्पति पर बसने वाला प्राणी हमारी अपेक्षा अधिक विकसित है तब भूति के रहस्य का एक पक्ष ही अनुमित उद्घाटन का संकेत बन कर स्वरित होता है।

चाँद के विषय में संभावना अब यह है कि वहाँ जीवन स्यात् अभी प्रिमिटिव अथवा आदिम स्तर पर ही हो। चाँद चूँकि धरती का उपग्रह है इसलिये यदि चांद पर जैवी जीवन आदिम दशा में हो तब बृहस्पति अथवा शनि के उपग्रहों पर भी इन ग्रहों से कम विकसित जीवन क्या संभव नहीं?

खण्ड, व्यष्टि अथवा अहन्ता के स्तर से सचेतन अपराप्रकृति का अन्न, प्राण एवं मनोमय कोषों के माध्यम से खण्डमयी, समष्टि इयत्ता के सजीव-निर्जीव अथवा भूतिगत अनेकानेक रूपों में चरित भी कम रहस्यमय नहीं। यही रहस्य व्यष्टि-जीव और समष्टि-भूति की परस्पर संगति, सापेक्षता एवं सन्तुलन के उन प्रश्नों का उत्स है जिनका उत्तर कौतूहल एवं जिज्ञासा से अनुप्राणित ऊर्ध्व-पार्थिव-प्राणी वर्ग के दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलाकार निरन्तर खोजते आए हैं। यह खोज आज भी जारी है। 'मैं' अथवा 'अहं' की थाली में सज कर चिन्तन, प्रयोग और राग के धूप, दीप और नैवेद्य जिस तरह 'यह' अथवा 'इदं' की आरती उतारते आए हैं, उसी से व्यष्टि और समष्टि का रूप भी बराबर बदलता गया है। व्यष्टि अथवा इकाई आज केवल एक व्यक्ति मात्र की इकाई नहीं, वह परिवार की इकाई भी है, गली और नगर की इकाई भी; नगर की इकाई ही नहीं, प्रदेश और देश की इकाई भी है। समस्त धरा पर सलील मानव समाज आज मानव व्यष्टियों में अनेकरूपात्मक भी है और व्यष्टियों के एक समुदाय रूप में समष्टि-मानव भी। पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की शत-शत वर्गणाओं में विविक्त कोटि-कोटि मानव इस समष्टि मानव के स्वगत भेद हैं। निस्पन्द 'पर' जैसे स्पन्दित होने पर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल होता जाता है उसी प्रकार यह हिरण्यगर्भ समष्टिमानव अपनी खण्डिकाओं में विराट है। जहां कहीं भी इसका स्वगत व्यष्टिखण्ड इससे विषम होने लगता है वहीं व्यवस्था दूषित होती है, उत्पात मचता है, रक्तपात होता है। अभी किसे विदित है कि स्वतः भूति का विषय यह पृथ्वी नामक हमारा उपग्रह भी भूति के विराट प्रसार में एक जीवमात्र ही हो और हम ऊर्ध्व-निम्न प्राणीनिकाय इसके अन्तर्वर्ती वैसे ही कीटाणु-मात्र हों जैसे कि देहियों में वर्तमान हैं।

भारतीय ज्योतिष में जो ग्रह गण दैव और आसुर उपाधियों से स्मरण किये जाते हैं, कौन जाने कब वे भी धरती के ऊर्ध्वप्राणीवर्ग और निम्नप्राणीवर्ग की तरह ही हमारे ऊर्ध्वप्राणीवर्ग के शीर्षस्थ अतिमानवों के लिये प्रत्यक्ष हो जायें।

रोग के कीटाणुओं का प्रतिपक्षी कीटाणु वर्ग जिस प्रकार मानवदेह में ही वर्तमान रहता हुआ इस देह को रोग के कीटाणुओं से सतत सुरक्षित रखता है उसी प्रकार यह भी क्या संभव नहीं कि पृथ्वी पर भी रोग के कीटाणुओं और उन कीटाणुओं के प्रतिपक्षी कीटाणुओं के जो प्रतिरूप सतत सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं उन्हीं की संज्ञा आसुरी और दैवी जीव हो?

आसुरी शक्तियों को रेखाओं और रंगों में उरेहता हुआ चित्रकार जब लंबे तीखे दाँत, गोल नुकीले सींग, फूले हुए नथुने और चढ़ी हुई आँखों के आकार में एक मानव प्रतिमा गढ़ता है तब उससे ध्वनि क्या निकलती है? दशानन, दशग्रीव, दशकंधर भी है तो एक मानव प्रतिमा ही परन्तु चित्रकार अथवा कवि ने 'दश' 'दश' में उस प्रतिमा की यह दुर्दशा क्या करदी है, इसका मूल आशय क्या है? लंका क्या उसकी कमर ही नहीं जो एकानन और एकग्रीव ने तोड़ डाली है। आखिर एकानन की यह विलक्षणता है क्या जिसके लिये पृथ्वी का एक विशिष्ट प्राणी वर्ग प्रति वर्ष एक पर्व ऐसा मनाता है जिसकी संज्ञा भी 'दशहरा' है। 'दश' का यह परिहार अन्ततोगत्वा है क्या? लोअर ऑर्गनिस्म में लंबे तीखे दाँत, गोल नुकीले सींग, फूले हुए नथुने और चढ़ी हुई आँखें उस वृत्ति की ही तो अनुभावात्मक (अफ़ेक्टिव) भंगिमाएँ हैं जिसे हायर ऑर्गनिस्म के प्रबुद्ध प्रातिभ प्राणी ने हिंस्र नाम दिया है। मानव आकार में जहाँ यह अतिचारी हिंस्र वृत्ति अभिभावक है वहाँ इस वृत्ति के वाचक प्रतीकों का उस आकार के साथ जुड़ जाना स्वाभाविक है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों का जोड़ दस है। इन दस को तैत्तिरीय उपनिषद् में उल्लिखित अन्नमय और प्राणमय कोष कहना चाहिये। यद्यपि इस तथ्य के परीक्षण के लिये और अधिक पैठ अपेक्षित है तदपि यह तथ्य है कि पृथिवी पर जैवी विकास की प्रक्रिया में भी कर्मेन्द्रियों के उपरान्त ज्ञानेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों के पश्चात् मस्तिष्क विकसित होता है। मस्तिष्क भी प्रमस्तिष्क अथवा सेरिब्रम की तानिकाओं के रूप में आज विकसनशील है। अभिवाही प्रवर्ध अथवा डेण्ड्राइट्स में ही विकास का नव नव उन्मेष जारी है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिपाद्य यही है कि जिसे हम दशानन, दशग्रीव अथवा दशकंधर कहते हैं वह आकार प्रकार में मानव होते हुए भी पाँच

कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अन्न-प्राणमय व्यापार एवं वर्तनी का विषय है। उसका यज्ञ, दान, तप भी ऐन्द्रिय तर्पण को ही निवेदित रहता है। उसके अर्जन का प्रयोजन भी लोअर ऑर्गेनिज्म की कर्षण शक्ति अथवा बेलेन्स का संधारण है। सीता समष्टि-मानव की इच्छा-शक्ति है और राम उसकी क्रिया-शक्ति। लोअर ऑर्गेनिज्म अथवा निम्न-प्राणी-निकाय की कर्षण वृत्ति निर्मर्याद होकर मन, अहंकार और बुद्धि को ज्यों ही अंगूठा दिखाती है त्यों ही समष्टि-मानव की इच्छा-शक्ति पर संकट आता है। तभी दशानन द्वारा सीता का अपहरण होता है, तभी दुर्योधन द्वारा द्रौपदी का चीर हरण होने लगता है, तभी भस्मासुर द्वारा गिरिजा पर अधिकार जताया जाने लगता है और तभी निरंकुश नृपति जैसा मनु अपनी विलास लोलुप भुजाएँ बढ़ाकर इड़ा को अपनी अंकशायिनी बनाने का दुस्साहस करता है। तभी यह इच्छा-शक्ति जिस शक्ति में केन्द्रित अथवा रूढ़ होकर अपनी रक्षा करती है उसकी संज्ञा राम* है, कृष्ण है, शिव है। अतिचार के विरोध में उठ खड़ी होने वाली प्रज्ञा भी वही है। जिस प्रतिज्ञा, वाद एवं व्यवस्था द्वारा समष्टि-मानव के इस संकट का प्रजनन अथवा पोषण होता है वे निश्चय ही समष्टि-मानव की इच्छा-शक्ति के महायज्ञ में होम कर देने योग्य हैं। होम करने वाली क्रिया-शक्ति में यह इच्छा-शक्ति फिर-फिर अवतीर्ण होती है। हवन वेदी पर प्रतिष्ठित इस समष्टि-मानव का मुख ही ब्राह्मण है, इसकी भुजाएँ ही क्षत्रिय हैं, इसकी जंघाएँ ही वैश्य और

---

*मेरी यह मान्यता अकारण एवं कल्पना का विलास मात्र नहीं।

भारत के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जिस को देवताओं की अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्या नगरी कहा है वही वस्तुतः इस समष्टि-मानव की भौतिक शरीर यष्टि है :—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या

अथर्ववेद १०/२/३१
तथा तैत्तिरीयारण्यक १/२७/२

ये अष्टचक्र उपर्युक्त अष्टमिथुन हैं जिन के प्रतीक कमल के अष्टदल हैं। इस अयोध्या में जो रम रहा है वही राम है। 'देव' शब्द इन्द्रियों का वाचक प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में देव को प्राण (प्राणा देवाः ६/३/१/१५) तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण में प्राण को इन्द्रियाँ (प्राणा इन्द्रियाणि २२।४।१) कहा गया है।

इस के चरण ही शूद्र हैं। सभी का अपना-अपना महत्त्व है। इसी महत्त्व के कारण अपने अधिष्ठान में सभी यथाविधि सेव्य और अभिवंद्य हैं। समष्टिमानव के इस आशय के मानचित्र का नाम भारत है। समष्टिमानव की प्रतिष्ठा ही भारतीयता है, इस प्रतिष्ठा का गान ही श्रुति की विभूति है, भारत की भारती। यही वह प्राच्य भारती है जिस का मंगलाचरण प्रस्तुत संग्रह का प्रथम समवेत गान है।

निम्नगा अथवा आसुरी वृत्ति का मूल निम्नप्राणीनिकाय में है। मुंह चढ़ी बात है, मुहावरा है कि छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है। अभिधा में यह मुहावरा निम्नप्राणी निकाय के ऊपरी छोर का तथ्य है जब कि लक्षणा में यही मुहावरा ऊर्ध्वप्राणीनिकाय के भीतर की गहराई में छिपी निम्नप्राणीनिकाय की वृत्ति का वाचक है। अधिकारी का अधिकृत के प्रति, शासक का शासित के प्रति, सामन्त का दास के प्रति, जमींदार का खेतीहर मजूर के प्रति, मिल मालिक का मजदूर और नेता का जनता के प्रति दर्प और दलन, दंभ और दोहन, प्रमाद और प्रताड़न, उपेक्षा और उत्पीड़न, शाठ्य और शोषण एवं वाक् कौशल और व्यामोहन का व्यवहार ही पश्चिम में यदि सर्वाइवल ऑव दि फ़िटेस्ट के नाम से होब्स प्रभृति द्वारा अनुमोदित हुआ तो भारत में इसी व्यवहार को मात्स्यन्याय की संज्ञा मिली। होब्स की प्रतिक्रिया में लोक तथा रूसो के सिद्धान्तों ने सर्वाइवल ऑव् दि फ़िटेस्ट सिद्धान्त को जो चुनौती दी थी उसी प्रकार की चुनौती भारत में बहुत पहले मात्स्यन्याय का निगिरण करके जीवन को एक नया मोड़ दे चुकी थी :—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे
षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः।

—कौटिल्य, अर्थशास्त्र अधि० १ अ० १३.

परन्तु क्या इस से मात्स्यन्याय की इति हुई, सर्वाइवल ऑव् दि फ़िटेस्ट के आगे क्या पूर्ण विराम लगा? वास्तविकता तो यह है कि अन्न-प्राणमय कोष के पश्चात् मन-ज्ञानविज्ञानमय कोषों के विकास के साथ मात्स्यन्याय और सर्वाइवल ऑव् दि फ़िटेस्ट के संदर्भ बदल गये। संदर्भ बदले तो फ़िटेस्ट का अर्थ भी बदला। शरीर बल का स्थान मनोबल और मनोबल का स्थान ज्ञान-विज्ञानबल ने ले लिया। मात्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा के लिये मनुस्मृति में जहाँ प्रभु द्वारा राजा की सर्जना का उल्लेख है वहाँ सोलहवीं शती ईस्वी में होब्स द्वारा अपनी कृति लिवियेथन के माध्यम से

प्रतिपादित राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त अथवा थ्योरी ऑव् दि डिवाइन ऑरिजिन ऑव् किंगशिप का पूर्वरूप ही द्रष्टव्य है :

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतो भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

—मनुस्मृति ७।३

इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण (१।३।१४) में राजा के चुना जाने का उल्लेख मिलता है। असुर योनियों से बार-बार पिटती हुई देव योनियों ने अपने बार-बार पराजित होने का कारण सोच विचार के बाद यही समझा कि हममें नेतृत्व का अभाव है, हम विधिवत संगठित नहीं, हमारा कोई राजा नहीं। तभी उन्होंने सोम को अपना राजा स्वीकार किया। तब सहमति से अपने शासक के निर्वाचन का आशय यही है कि नृपति अपने आचरण के लिये नर के प्रति उत्तरदायी रहे। इसी कारण नृपति की संज्ञा नृपाल भी है, भूपति की अभिधा भूपाल भी है। जो पालक है वही पति हो सकता है। निर्मर्याद पति शब्द से तो दास प्रथा और सामन्ती युग की गन्ध आने लगती है। दशानन निरंकुश रहता है, अपने 'दश' अथवा अन्न-प्राणमय कोष के अतिरिक्त और किसी की मर्यादा वह नहीं मानता। परन्तु राम मर्यादामय है। देव, ऋषि, पितर और लोक की मर्यादा को वह मानता है। छठी शताब्दी ई. पू. के भारत में सहमति से राज्यतंत्र का निर्वाह करने वाले जो छोटे-छोटे गणराज्य वर्तमान थे वे उसी मर्यादा से प्रशास्त थे जो सत्रहवीं अठारहवीं शती ईस्वी के यूरोप में सोशल-कण्ट्रेक्ट नाम से प्रथित हुई।

स्वामी हो अथवा सामन्त, अधिकारी हो अथवा शासक, जमींदार हो, अथवा उद्योगपति, न्यायाधीश हो अथवा नेता—कोई भी जब मात्स्यन्याय का स्तंभ बनने लगता है तभी समष्टि-मानव का तिरस्कार करने वाली आसुरी वृत्ति बल पकड़ने लगती है। रोग के कीटाणुओं की तरह निम्नप्राणीनिकाय की वृत्ति का दशानन समष्टि-मानव के स्वास्थ्य पर आघात करता है। ऊर्ध्वप्राणीनिकाय की वृत्ति प्रतिपक्षी कीटाणुओं की तरह सक्रिय होकर इस दशानन के साथ जूझ पड़ती है। यह युद्ध ही देवासुर संग्राम है। इसी संग्राम के दौरान संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई है।

अपने चिन्तन, प्रयोग और राग द्वारा देव अथवा हायर ऑर्गनिस्म का उदात्त प्राणी समष्टि-मानव के हितार्थ जो भी दर्शन, विज्ञान एवं कला

विकसित करता है, दशानन उसको दबोचने में तत्पर रहता है। यही दबोच ईश्वर का रूप विकृत करती है, मशीन के सत्प्रवर्तन को भ्रष्ट करती है और अभिव्यक्ति के कौशल को अपने स्वर्ण पिंजर का कीर बनाती है। अवतार, पैगम्बर और मसीहा इस दबोच से मुक्त नहीं रहे तभी तो निःश्रेयस और अभ्युदय की सिद्धि अभी भी एक सपना है, एक ऐसा आदर्श जो अविरत संघर्ष की माँग करता है। भौतिक उत्पादन के शत-शत उपकरण, हाथ और मशीन के अगणित वरदान इस दबोच से बाहिर आकर भौतिक सुख सुविधा का साधारणीकरण समान वितरण के आधार पर कहाँ कर पाए हैं ? इसी लिये वे एक नई विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था की माँग करते हैं। शस्त्र और अस्त्र आज भी आर्त्तत्राण के लिये उठ रहे हैं परन्तु उनकी उपेक्षा करते हुए दशानन का निर्मम अट्टहास अभी भी संक्रामक रोग की तरह समष्टि-मानव की स्मृति में प्रतिष्ठित है। युगों-युगों से जो सूर्य एवं इतर ग्रहगण परिक्रमणरत उपासक भू लोक को आलोक का वरदान प्रदान कर समष्टि मानव को विकसित करते आए हैं उन्हीं के प्रति अपने राग के पराग का प्रतिदान करने के लिये लालायित यह समष्टिमानव कुण्ठा और कुत्सा की जघन्यता से आज उत्पीड़ित और उत्कण्ठित भी है। दशानन के दाह का पर्व अभी पुजा नहीं। इस दशानन का दाह जिसका चिरन्तन पर्व है, मैं उस भारतीयता का ही स्वर और स्पन्दन हूँ !

मेरे अस्थि-मांस में मृत्तिका है, अवनि। मेरे स्वेद और रक्त में जल है, मेरी ऊर्जा में अग्नि है, मेरे भीतर के शून्य रन्ध्रों में आकाश है, मेरे श्वास में वायु है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रदत्त अथवा पुरस्कृत अनुभावों का अधिष्ठान अथवा स्मृति-संस्थान (मस्तिष्क में) मेरा मन है, अनुभावों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतीति का संचार करने वाली मेरी अहन्ता है, इस प्रतीति का तार्किक प्रतिज्ञा में परिणमन करने वाली मेरी बुद्धि है। स्वतः मैं अपरा प्रकृति का मानचित्र ही तो हूँ। रोग के कीटाणु और उनके प्रतिपक्षी कीटाणु मेरे भीतर भी तो हैं। तब क्या ये प्रतिपक्षी कीटाणु मेरे विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी नहीं हैं ? जो इच्छा शक्ति मुझ में स्पन्दित है उसका रोग के इन प्रतिपक्षी कीटाणुओं के साथ क्या कुछ भी सम्बन्ध नहीं ? यदि है तो असुर के साथ जूझने वाली यह देव-सेना ही क्या मेरी उस सुप्त क्रियाशक्ति की वाहिनी नहीं जिसकी संज्ञा संस्कृति है ? अहन्ता के स्तर पर प्रतीति के आनुकूल्य-प्रातिकूल्य में निम्नप्राणीनिकाय के दाय और ऊर्ध्वप्राणीनिकाय

की उपलब्धि का ही प्रतिष्ठान है। यही कारण है कि आनुकूल्य-प्रातिकूल्य सापेक्ष धर्मी हैं। कल मेरे लिये जो प्रतिकूल था वही आज मेरे लिये अनुकूल है। आनुकूल्य-प्रातिकूल्य का यह व्यत्यय एवं विपर्यय अन्तर्वर्ती कीटाणुवर्ग के व्यत्यय एवं विपर्यय के साथ तुल्य है। इच्छाशक्ति जहाँ रोग के कीटाणुओं में विकृत हो कर क्रिया-शक्ति में रूढ़ अथवा तरंगायित होती है वहीं अपरा प्रकृति का मेरा यह मानचित्र शिथिल, जर्जर एवं निम्नग होने लगता है। इसकी विपरीत दशा में यही इच्छाशक्ति स्वतः उदात्त हो कर जब निम्नप्राणीनिकाय के दाय अथवा रोग के कीटाणुवर्ग जैसे महिषासुर की पहुँच से परे की अथवा महिषासुरमर्दिनी दुर्गा बनती है तभी मेरा मानचित्र उज्ज्वल और ऊर्ध्वंग बनता है। यही दुर्गा मेरी अहन्ता की परिष्कृति है। अपरा प्रकृति में अहन्ता की इस परिष्कृति की संज्ञा ही संस्कृति है। यही संस्कृति समष्टि-मानव की भूति में ऊर्ध्वंगा वृत्ति है। भौतिकता में इसी वृत्ति की क्रिया-शक्ति के संचार की संज्ञा सभ्यता है। सभ्यता में सभ्य होने का भाव है। सभ्य में 'स' उपसर्ग सहित 'भा' धातु का यप्रत्यय (पाणिनि० ४।४।१०५) में विन्यास है। साथ मिल कर सामूहिकता में, समष्टि में भास्वर होना, प्रकाशित और प्रोन्नत होना ही सभ्य होना है। चिन्तन से मथित, प्रयोग से परिष्कृत और राग से रंजित होना ही समष्टि-मानव की भूति में विकास की प्रक्रिया है। इच्छा-शक्ति की दुर्गा ही समष्टि भूति में यदि संस्कृति है तो क्रिया-शक्ति में उसका स्थूल अवतरण ही समष्टि-भूति में सभ्यता है। संस्कृति बहती धारा है, संतारिणी भागीरथी है और सभ्यता इस भागीरथी से अभिषिक्त हरीतिमामयी उर्वरा धरा। इच्छा शक्ति की यह भागीरथी क्रिया-शक्ति का सेचन करती हुई भी उसे रूढ़ि-जर्जर होने से बचाती है। अपने अन्तहीन प्रवाह से वह क्रिया-शक्ति को नित्य नवीन बनाए रखती है। जहाँ कहीं सभ्यता संस्कृति के इस संजीवन संस्पर्श से वंचित होने लगती है वहीं से उसका विकास रुद्ध होने लगता है। यह गतिरोध समष्टि मानव की भूति के लिये घातक है, संकीर्ण-दृष्टि विद्वेष एवं वैमनस्य, अनीति एवं अन्धविश्वास, दंभ एवं प्रपंच, कुत्सा एवं कुण्ठा इसी गतिरोध की सन्ततियाँ हैं जिन्हें यथार्थ अथवा साम्यवाद की भाषा में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी कहा जाता है।

स्वाधीनता शब्द भी संस्कृति और सभ्यता के सन्दर्भ में विचारणीय है। स्वाधीन, स्वायत्त, स्वतंत्र प्रभृति शब्दों में 'स्व' की आवृत्ति हुई है। 'स्व' का आशय है अपना आप। अपना आप क्या है। मैं अपने आप को जब अपरा

प्रकृति का मानचित्र कहता हूँ तब 'स्व' का यह कौनसा आशय स्वरित होता है ? यदि अपरा प्रकृति का आशय ही 'स्व' है तब स्वाधीन, स्वायत्त अथवा स्वतंत्र का आशय भी क्या अपरा प्रकृति के अधीन, आयत्त होना अथवा अपरा-प्रकृति-तंत्र नहीं हो जायगा ? अपरा प्रकृति के अधीन होना वस्तुत: भूति के रहस्य को उद्घाटित करना है। भूति का रहस्योद्घाटन भी वस्तुत: उस व्यवस्था एवं विनियम का प्रकाशन है जो परिणति एवं परिवर्तन को प्रशस्त कर रहे हैं। इसी व्यवस्था एवं विनियम से अनुशासित होना ही अज्ञान एवं अविद्या की कुज्झटिका से विनिर्मुक्त हो कर स्वाधीन, स्वायत्त एवं स्वतंत्र होना है। इसी कोटि का स्वाधीन जन संस्कृति का उन्नायक एवं सभ्यता का विधायक कहला सकता है। जिस परिवार, जाति एवं राष्ट्र में मात्र तिजोरी और कुर्सी के ठाकुर सूट की शिफ्त, बो की बू, नेकटाई के नशे, कार की कौंध, बँगले के बेयरिंग से आसपास के जीवन को नीचा दिखाते हुए अघाते न हों, इन ठाकुरों की नकल पर ही जहाँ ठकुराई के ठीकरे भी अपनी ट्विस्ट करते थकते नहीं, क्लब-होटल जहाँ तिजोरी और कुर्सी के मुताबिक इन ठाकुरों के लिये साकी और मीना का काम देते हों वहाँ संस्कृति और सभ्यता का क्या काम? क्रौंच-मिथुन में से एक के वध पर पसीजने वाला आदि कवि तो वहाँ अजनबी है, लुटते पिटते हुओं का हिमायती तो वहाँ परदेसी है। कोई मरे कोई जिये सुथरा घोल पतासा पिये, अपुन को क्या ? अपुन का पेशा तो ठेकेदारी है, संस्कृति और सभ्यता की ठेकेदारी ! क्लब-होटल और क्लब-होटल के ये बानी ठेकेदार जहाँ संस्कृति और सभ्यता के शृंगार बनते हैं वहाँ छल-छद्म, दंभ-प्रपंच व्यक्ति की स्वाधीनता के बाधक बन कर दशानन को पालागन करते हैं। भेद-भाव एवं वैषम्य की इन्हीं रूढ़ियों के माध्यम से यदि कोई संस्कृति की संजीवनी जुटाने का स्वप्न ले तो उस के विवेक को क्या कहा जाय ? स्वाधीनता के अर्थ का अनर्थ करके राष्ट्रीयता का नारा लगाना वस्तुत: विकृति को ही वाणी देना है।

संस्कृति और सभ्यता के उन्नायक विधायक ऋषि मनीषी जिस परिवार, जाति एवं राष्ट्र में उपेक्षित रहते हैं उन ऋषियों मनीषियों की गीर्वाण गिरा अथवा अमृतवाणी जब तक तिरस्कृत रहती है, नई सन्ततियों में जब तक समष्टि-भूति के हितार्थ निवेदित होने की स्वाधीनजनोचित निष्ठा का संचार नहीं होता तब तक राष्ट्रीयता विकास की शक्तियों का पोषण नहीं कर सकती। स्वाधीनता का अनर्थ करने वाली राष्ट्रीयता असुर है, अभिशाप है। कोई भी स्वस्वप्रिय स्वाधीन जन इस अभिशाप को सहन नहीं कर सकता।

ऐसी राष्ट्रीयता के प्रपंच को सहन करना कायरता है, नपुंसकता है। सांस्कृतिक संकट का सामना करने के लिये यदि आवश्यकता हो तो दधीचि की अस्थि बन जाना ही वरेण्य है।*

राष्ट्रीयता के संदर्भ में भारत की वर्तमान दशा का संस्कृति-सभ्यता परक विश्लेषण नितान्त वांछनीय है। किसी भी विदेशी आक्रमण की आशंका से सजग होकर हम जब यह कहते हैं कि राष्ट्र पर संकट है तब उसका अर्थ क्या है? सूखा पड़ने से दुर्भिक्ष का संकट, राजनीतिगत कुत्सित स्वार्थों को लेकर गृह-कलह का संकट, जनसंख्या की आशातीत बढ़ोती से व्यवसाय एवं व्यवस्था का संकट—अनेक प्रकार के भीतरी संकट हैं। परन्तु स्थिति तब सब से अधिक शोचनीय होती है जब शत्रु की ओर से संकट रहने पर साथ ही गृह-कलह का भीतरी संकट भी सुलगने लग पड़े। दुर्भाग्यवश इसी दौर में से भारत आज गुजर रहा है।

तिजोरी और कुर्सी के मूल्य आज यहाँ सर्वोपरि हैं। धर्म और मोक्ष आज अर्थ और काम को निवेदित हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता जो जहर फैला रही है वह अनशन और आत्मदाह की फूत्कार में प्रकट है, भाषा का नाम लेकर निहित स्वार्थों की कुत्सा जो आग लगा रही है वह समस्त देश के तथाकथित हिन्दी-अहिन्दी क्षेत्रों में बराबर लगी हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्र के विरुद्ध प्रदेशों की हठवादिता शिक्षा को एक राष्ट्रीय आधार देने में बाधक हो रही है। परिणाम यह है कि स्कूल और कॉलिज अपने नियोग के निर्वाह में अपर्याप्त सिद्ध हो रहे हैं।

भौगोलिक दृष्टि से भारत की एकता का मानचित्र भी उसकी संस्कृति में संदृब्ध है। पुराण की एक कथा के अनुसार नल और नील नामक दो भाई थे। एक शिव का उपासक था और दूसरा शक्ति का। एक दिन दोनों में इस बात को लेकर विवाद हो गया कि शिव और शक्ति में से कौन गरीयस है। स्वतः शिव ने उन्हें समझाया कि शिव और शक्ति के अभिन्न युग्म से ही परमात्मा की पूर्ण प्रतिमा बनती है जिसे अर्द्धनारीश्वर कहते हैं। शिव की कही को अनसुनी करने के कारण दोनों भाई शापवश पक्षी बन गये। पश्चात्ताप करके उन्होंने शिव से यह वरदान पाया कि द्वापर के अन्त में वे पुनः मानव देहधारी बन जायेंगे। द्वापर के अन्त में ऐसा ही हुआ। दोनों भाइयों के अमोघ तप से सन्तुष्ट होकर शिव ने उन्हें वरदान दिया कि कुछ काल के अनन्तर वे दोनों जन्ममरण के बंधन से मुक्त हो जायेंगे। परन्तु दोनों ने

---

*देखिये पृ० ७८

उसी समय मुक्त होने का हठ किया। इस पर रुष्ट होकर शिव ने कलियुग के अन्त तक के लिये उन्हें पुनः पक्षी बना दिया। इन्हीं दोनों पक्षियों के नाम पर मद्रास से इकहत्तर किलोमीटर दूर पाँच सौ फ़ीट ऊँचे वेदगिरीश्वर का सुप्रसिद्ध पक्षीतीर्थ है। यहीं उक्त धर्मात्मा विहग युगल नित्य प्रति मध्याह्न बारह बजे प्रसाद ग्रहण करने आते हैं। कथा के अनुसार ये दोनों—नल तथा नील नित्य प्रति वाराणसी में गंगा-स्नान करके अमरनाथ के हिमानी शिवलिंग को प्रणाम कर रामेश्वरम पहुँच कर उपासना करते और तदनन्तर पक्षी तीर्थ में आहार लेकर चिदम्बरम में विश्राम करते हैं। नल और नील क्या हैं—यह एक पृथक् प्रश्न है जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। इस कथा से दो बातें स्पष्ट सूचित हैं; एक, शिव और शक्ति को पृथक् करके जानना और एक को दूसरे का अनुपूरक मानने की अपेक्षा दोनों में से किसी एक को दूसरे से बड़ा स्वीकार करना घोर अपराध है; दूसरे, अमरनाथ से लेकर चिदम्बरम तक का समस्त भूभाग संस्कृति का परम पावन क्रीड़ा कानन है, भूमा की उपासना का पुनीत केन्द्र। मिथुन प्रतीक में क्रमशः निष्क्रिय शिव-शक्ति और सक्रिय शिवा-शक्ति के रूप में शिव-शक्ति की प्रतिष्ठा भी भारतीय संस्कृति की व्यापकता और सामासिकता की परिचायिका है। तुलसीदास के रामचरितमानस में भी जहाँ 'सिव-द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहिं सपनेहुँ न भावा' कहा गया है वहाँ विवक्षित यही है कि शिव और राम अथवा शैव और वैष्णव में भेद भाव पैदा कर के द्रोह फैलाना अपराध है, ठीक वैसा ही अपराध जैसा नल-नील ने शिव और शक्ति के विषय में विवाद छेड़ कर खड़ा कर दिया था। इस अपराध का पश्चात्ताप जो धर्मात्मा पक्षी आज भी समस्त देश की अविरत परिक्रमा द्वारा कर रहे हैं उन से कहीं घोर अपराध उन तथाकथित धर्मप्राण महन्तों और मठाधीशों का है जो कहीं पंथ के आधार पर भेदभाव पैदा करते हैं तो कहीं शिव को द्रविड़ देवता कह कर उत्तर-दक्षिण का बखेड़ा खड़ा करते हैं। कहाँ स्पन्द अथवा काश्मीर शैव दर्शन की वह सुदूरवर्ती भारतीय धरा जिस पर पड़ोसी देशों की कृपा-दृष्टि बराबर बनी हुई है और कहाँ ये उत्तर-दक्षिण, प्रादेशिकता, भाषा अथवा सम्प्रदायगत संकीर्णता का झगड़ा खड़ा करके जनसाधारण को भुलावा देकर अपना उल्लू साधने वाले भारतीय सपूत !

भौगोलिक दृष्टि से भारत की एकता के मानचित्र का दूसरा सांस्कृतिक संदर्भ महिषासुरमर्दिनी दुर्गा शक्ति का है। काल का वशवर्ती महामोह ही सर्प से वलयित वह महिषासुर है जो मधु-कैटभ अथवा शुंभ-निशुंभ की तरह

राष्ट्रपुरुष के लिये संकट पैदा करता है। राष्ट्र के भीतरी और बाहिरी शत्रुओं का बल ही महिषासुर है। इसके प्रतिपक्ष में चित् शक्ति की प्रतीक-भूत दुर्गा ही राष्ट्रशक्ति है। राष्ट्र का संहतिपक्ष सिंह है और उस संहतिपक्ष पर अवतीर्ण उसकी शक्ति ही दुर्गा। यही कारण है कि शाक्त दर्शन में भारतभू को भव का मध्य बिन्दु माना जाता है।

प्रतीक जब अपने मूल अर्थ को खो बैठता है तभी वह अन्धविश्वास एवं रूढ़ि बन जाता है। यह रूढ़ि निम्नगा वृत्ति को ही पुष्ट करती है। शैव शाक्त एवं वैष्णव प्रभृति जो अनेकानेक सम्प्रदाय चिन्तन के विविध आयामों की तरह यहाँ प्रवर्तित और प्रथित हुए वे सब अन्ततोगत्वा अपनी तार्किक संगतियों से विच्छिन्न हो कर रूढ़ि एवं अंधविश्वास बन कर रह गये। रूढ़ि और अंधविश्वास के इस मोह-कलिल से व्यतितीर्ण होना अभी भी दुष्कर नहीं परन्तु इसके लिए एक ऐसे केन्द्र-प्रेरित राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता है जो शिक्षा की नूतन व्यवस्था द्वारा प्रतिक्रियावादी शक्तियों के इन साम्प्रदायिक स्तंभों, राष्ट्रीयता के इन शत्रुओं के प्रपंच, अज्ञान एवं अनाचार का भंडा फोड़ कर इनकी दुरभिसन्धियों को उखाड़ फेंके।

भारत की संस्कृति वस्तुतः सामासिक संस्कृति है। आर्य, द्रविड़, यक्ष, गंधर्व, यवन, हूण, आभीर, गुर्जर, मंगोल, अफ़ग़ान, मुग़ल, ईसाई—एक के बाद एक ये सभी जातियाँ इस विशाल भूभाग में तूफ़ानी वेग से आईं और समीर की तरह सौम्य हो कर यहीं रच-पच गईं। आज भी समस्त भारत में एक न एक रूप में नाग-पंचमी मनाई जाती है। देवी माता का पूजन, कन्यका पूजन आज भी इस देश के जन साधारण की थाती है। दीवाली एक ओर जहाँ राम का अभिनन्दन है वहाँ यक्ष रात्रि भी वह है लक्ष्मी और गणेश की पूजा भी वही है। इस एक पर्व में किस किस जाति की ज्योति जगमगाती है—स्कूलों कॉलिजों में यह कौन समझाये? गुर्जरों तक इस देश को आन्दोलित करने वाली सभी जातियाँ इस भूभाग में अपने अपने व्यवसाय के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनती गईं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसे अपने पाठ्य-क्रम के माध्यम से भावी सन्ततियों तक न पहुँचा कर हम शिक्षा-शास्त्री घोर अपराध कर रहे हैं। स्वायत्त निरंकुशता की मांग करने वाले हमारे विश्वविद्यालय भी इस अपराध में बराबर शामिल हैं।

समष्टि-मानव की मूर्ति का मानचित्र अकेला यह भारत देश है परन्तु इस मानचित्र के प्रति उदासीनता किस स्वाधीनता का प्रसाद कही जाय? प्रत्येक जाति ने चिन्तन, प्रयोग और राग की अपनी अन्यतम उपलब्धियाँ

प्रदान कर इस विशाल भूभाग के जीवन को जहाँ अभिषिक्त किया है वहाँ उनकी अपनी अपनी रूढ़ियों अन्धविश्वासों और संकीर्णताओं से उन्होंने इसे जर्जर भी कम नहीं किया। अब स्वाधीन होने का अर्थ यही होना चाहिये कि उन दुर्बलताओं एवं गतिरोध पैदा करने वाली शक्तियों को विदा बोल दी जाय और राष्ट्रपुरुष को स्वाधीनता के उन्मुक्त प्रांगण में एक मजबूत इकाई की तरह खुल खेलने के काबिल बनाया जाय।

ज्ञानार्जन की दृष्टि से जिज्ञासा वृत्ति को नमस्कार करवाने वाली, परिश्रम की दृष्टि से प्रमाद और तमस की घुट्टी पिलाने वाली, व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से छात्र और अध्यापक को नौकरीबाजी, सत्ता, सम्पत्ति और पूंजी के दंभ के आगे-पीछे कुत्ते की दुम की तरह हिलाने वाली, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय एवं सार्वभौम दृष्टि से सर्वथा एकांगी और पंगु बनाने वाली आज के भारत की दफ्तरी-व्यवसाय केन्द्रित-शिक्षा ठीक ही समूचे राष्ट्र को भीतर से घुन की तरह और बाहिर से कोढ़ की तरह पूज रही है।

राष्ट्रीयता के संदर्भ में भाषा का प्रश्न भी विचारणीय है। प्रगल्भवाक होकर अपनी बात कहने के लिए मैं पहले ही क्षमा याचना कर लेना चाहता हूँ। भारत कभी एक भाषी देश रहा हो अथवा नहीं परन्तु यह तथ्य है कि अंग्रेजी उसी तरह इस देश पर लादी गई भाषा है जिस तरह कभी अरबी और फ़ारसी इस देश की जनता पर लाद दी गई थीं। उससे न अरबी इस देश की भाषा बनी, न फ़ारसी। मुग़ल शासकों में शाहजहाँ ने जिसे उर्दू नाम से राज्यपद पर प्रतिष्ठित किया था वह मुल्लाओं और औलियाओं की भाषा ही नहीं थी, दक्खिनी हिन्दी भी वह थी। देवनागरी लिपि में वह खड़ी बोली का पूर्वरूप ही नहीं रही अपितु गुरुमुखी लिपि में भी उसका पूर्व-रूप द्रष्टव्य है। यह रोचक तथ्य ही तो है कि ईसा से भी चार पांच शताब्दियाँ पूर्व भास प्रभृति संस्कृत नाटककार जिस प्राकृत का प्रयोग कर रहे थे वह आज भी पश्चिमी पंजाब के झंग-मुलतान आदि जिलों में बोलचाल की भाषा है। भाषा की इन भंगिमाओं से यही सूचित होता है कि आज की हिन्दी का पूर्वरूप न केवल ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी, हरियाणवी एवं पंजाबी में वर्तमान है अपितु पश्चिमी पाकिस्तान तक में उसका पूर्वरूप द्रष्टव्य है। दक्खिनी हिन्दी तक उसका फैलाव था। संविधान ने जिस हिन्दी को राजभाषा अथवा संपर्कभाषा के रूप में मान्यता दी है वह खड़ी बोली है। पंजाबी को भले ही संविधान ने अलग भाषा के रूप में मान्यता दी है तदपि यह तथ्य है कि भाषा-विज्ञान

की दृष्टि से पंजाबी का खड़ी बोली हिन्दी के साथ ब्रज, अवधी एवं भोजपुरी की अपेक्षा कहीं अधिक समीप का सम्बन्ध है। हिन्दी और आर्य परिवार की इन भाषाओं के विषय में यदि कोई कठिनाई है तो वह यही कि द्रविड़ परिवार की भाषाओं विशेषतः तमिल के साथ इनकी संगति कैसे संस्थापित हो। यह बात तो तय है कि फ़ारसी और अरबी की तरह अंग्रेज़ी भी इस देश के जनसाधारण की मातृभाषा नहीं बन सकती। फ़ारसी अरबी की तरह उसका प्रभाव तो पड़ेगा ही, पड़ रहा है—यह एक ऐसी नैसर्गिक प्रक्रिया है जिस से बचा नहीं जा सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि हिन्दी-अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी का विरोध किस लिये हो रहा है ? सरकार द्वारा सुविधा मिलने पर भी हिन्दी प्रदेशों के पत्र-तार-मनी-आर्डर अधिकांश अंग्रेज़ी में क्यों जाते हैं, दूकानों के नामपट्ट, बही-खाते अंग्रेज़ी में किस लिये हैं। जिन दूकानों पर पहले सब काम-काज हिन्दी में चलता था वहाँ अब अपने बाप की गद्दी पर बैठने वाला बेटा सब काम काज अंग्रेज़ी में क्यों चलाने लगा है ? उस पर तो कोई प्रतिबन्ध नहीं। असलियत यह है कि हिन्दी का विरोध (और कभी-कभी तो समर्थन भी) निहित राजनीतिगत स्वार्थों के कारण है। अन्यथा 'हिन्दी का साम्राज्यवाद' कोई अर्थ नहीं रखता। हिन्दी ने तो अंग्रेज़ी का स्थान लेना है तब फिर प्रादेशिक भाषाओं के साथ उसकी प्रतियोगिता कैसी ? प्रादेशिक भाषाओं ने अंग्रेज़ी का स्थान तो लेना नहीं, उनको तो प्रारंभिक स्तर से शिक्षा का माध्यम बनना चाहिए। दूसरी बात, प्रादेशिक भाषाएँ यदि सात समुद्र पार की एक विदेशी भाषा का बोझ ढो सकती हैं तो अपनी ही भाषा के साथ आदान-प्रदानगत सम्बंध उन्हें मान्य क्यों न हो। साहित्यिक जगत में यह आदान-प्रदान जोरों से जारी है। इन्हीं पंक्तियों का लेखक स्वयं बिना किसी की सहायता से बंगला और तमिल भाषाओं का अभ्यास कर रहा है। तब फिर विरोध क्यों ? इसका उत्तर राजनीति की कुत्सा है। जनसाधारण उस सबसे प्रायः अनभिज्ञ रहता है जो उसके नाम पर कहा अथवा किया जाता है।

अज्ञान के कारण अर्थ का अनर्थ करने वाले अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों के दुर्वृत्त से व्यथित प्रतीच्य पण्डित श्री उडरफ़ के ये शब्द आज भी विश्व-विद्यालयों के अभिभावक और तथाकथित अंग्रेज़ी पढ़े पण्डित वर्ग पर शतशः विनियोज्य हैं :—

"यह (अर्थ का अनर्थ) इस कारण होता है क्योंकि कुछ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीय इस विषय (मंत्र-शास्त्र) से ऐसे ही अनभिज्ञ हैं जैसे यूरोप के वे सामान्य-जन जिनके अनुकरण पर ये (अंग्रेज़ी पढ़े लिखे भारतीय)

सोचना सीख कर अपनी धारणाओं का निरूपण करते हैं। ऐसे प्रतिष्ठित भारतीयों में से एक प्रतिष्ठित सज्जन मिले, जिनका कहना था कि मंत्र 'निरर्थक गड़बड़ घोटाला' है। भारतीय सिद्धान्त और साधना को विदेशी पंडित वर्ग ने यद्यपि बुरी तरह से ग़लत समझा और वैसे ही इतने अरसे तक उसका ग़लत प्रचार भी किया तदपि उससे कहीं अधिक खेद का विषय यह है कि इसी पुण्यभूमि के निवासियों ने (विदेशी मान्यताओं का अन्धानुकरण करके) ग़लतफ़हमी का शिकार होकर उस सब का अकारण ही अवमूल्यन और अनादर किया जो उनका अपना है। इसका यह मतलब नहीं कि वे बेतुकी को भी शीश नवाएँ क्योंकि वे भारत के ही हैं बल्कि चाहिये तो यह कि किसी वस्तु को व्यर्थ कहने से पहले उसे समझने की कोशिश की जाए······"

"मैंने जब पहले पहल इस शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया तब मेरा विचार था कि इतर देशों से कम मूर्ख इस देश में भी क्या होंगे? लेकिन बाद में मैंने पाया कि इस देश में ऐसे मेधावी हो गुजरे हैं जिनकी तुलना कहीं भी दीखने वाले किसी भी निष्णात मेधावी से की जा सकती है।"

अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय न तो अंग्रेजी में ही वैसा अधिकार अर्जित कर पाते हैं और न ही अपने यहाँ की किसी भाषा में पारंगत हो पाते हैं। त्रिशंकु जैसी अपनी दुर्दशा को बचाते फिरने के प्रयत्न में वे मायावी और दंभी बनने के लिये विवश हो जाते हैं। तिजोरी और कुर्सी के मूल्य मायाजाल और दंभ का ताना-बाना बुनने में उनके बहुत सहायक होते हैं। यही कारण है कि एकांगी पुस्तकी विद्या से अर्जित यूरोपीय प्रतिमान लेकर वे भारत में अपना जीवन एक प्रवासी की तरह प्रारम्भ करते हैं। उनका व्यवहार, उनका रहन-सहन—सब कुछ ऐसा होता जाता है कि क्लब-होटल के बाहिर की खुली हवा उन्हें रास नहीं रहती। यही कारण है कि ऐसे लोग तिजोरी और कुर्सी पर बैठ कर मायावी प्रपंच का श्रृङ्गार तो हो सकते हैं परन्तु यथार्थ का सामना वे नहीं कर सकते। यदि यही बात उन्हें कही जाय तब उनका उत्तर कुछ और होगा। उनका विश्वास है कि राष्ट्र जो कुछ खड़ा है सो उन्हीं के सहारे खड़ा है। यही दंभ है। उनकी विकृत अहन्ता इस सीधे से तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकती कि भारतीयता के मूल में उनकी पैठ नहीं है। राजदूत अथवा उच्च अधिकारी के नाते ऐसे 'भारतीय' जब विदेशों में जाते हैं तब वे यदि नहीं कर पाते तो एक भारतीयता का प्रतिनिधित्व ही नहीं कर पाते। यह दोष उनका नहीं, यह दशा तब तक बराबर

बनी रहेगी जब तक बरगद की तरह अंग्रेज़ी हिन्दी पर छाई रहेगी और प्रादेशिक भाषाओं के साथ उसे लड़वा कर अपने सिंहासन को बनाए रहेगी। मेरे इस मन्तव्य का यह आशय कदापि नहीं कि अंग्रेज़ी का अध्ययन-अध्यापन सर्वथा वर्जित हो जाय। मेरी मान्यता तो यह है कि सही अर्थों में हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व एवं स्वाधीनराष्ट्रोचित चरित्र का निर्माण उस दिन शुरु होगा जिस दिन हम रूसी, फ्रेंच, जर्मन, जापानी एवं अरबी भाषाओं की तरह अंग्रेज़ी को भी उच्चतर शिक्षा में एक वैकल्पिक विषय का स्थान देकर उसकी जगह हिन्दी को प्रतिष्ठा देंगे। आज से पौन शताब्दी पहले यदि अहिन्दी भाषी बंगाल और गुजरात ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में मान्यता दिलाने का संकल्प कर लिया था तो आज सिवा कुछ निहित स्वार्थों के आगे आ जाने के और कठिनाई क्या है? वही जो नेता जी सुभाष अथवा राष्ट्रपिता गाँधी के सामने हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिये जाने का विरोध करते केवल इस लिये काँपते थे कि इससे उन्हें देशद्रोही, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कठपुतली और न जाने क्या-क्या कह दिया जायगा—वही आज मौका लगते ही ऐसी हालत पैदा करके ऐंठ रहे हैं कि राष्ट्रीय एकता का हौआ दिखा कर, हिन्दी का विरोध करने लगते हैं। ऐसे लोग हिन्दी भाषी प्रदेश में भी कम नहीं। राष्ट्रीय एकता को खतरा हिन्दी के विरोध से है, समर्थन से नहीं। भय वस्तुतः यह है कि जितनी जल्दी हिन्दी सारे देश के कृषक, श्रमिक, मध्यवर्ग में फैलेगी और सरकारी काम काज जन-जन के लिये सुबोध हो जायगा उतनी जल्दी क्लब-होटल का दंभ और ढहेगा। विश्वविद्यालयों में जहाँ-जहाँ अंग्रेज़ी वालों का बोलबाला है वहाँ स्वतः हिन्दी वाले तुच्छ लाभ लेने के लिये उनकी चिरौरी में जुटे रहते हैं। ऐसी दशा में व्यक्तित्व का निर्माण क्या होगा, भारतीयता की प्रतिष्ठा कैसे होगी। क्या केरल की तरह दूसरे विश्वविद्यालय भी उच्चतर शिक्षा के माध्यम रूप में हिन्दी को मान्यता देकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के अंग्रेज़ी-समर्थक-सामन्त देशद्रोहियों का मुँह नहीं तोड़ सकते? आखिर विलम्ब क्यों? अंग्रेज़ी के माध्यम से सामन्त-साम्राज्य और पूँजीवाद के मुहरों को अवकाश देकर वर्गहीन समाज के आदर्श की हत्या किस लिये? क्या हम देख नहीं रहे कि भाषा और सम्प्रदाय के नारों के पीछे कौनसी 'राष्ट्रीयता' काम कर रही है।

आज से त्रेपन वर्ष पूर्व सन् १९१३ में भारतीयता के गंभीर अध्येता दाक्षिणात्य पण्डित श्रीयुत आनन्दकुमार स्वामी ने अंग्रेज़ी पढ़े लिखे भारतीयों के व्यक्तित्व की विकृति से विक्षुब्ध होकर भारतीय शिक्षा-पद्धति के विषय में लिखा था :—

"यह समझना भी सरल नहीं कि भारतीयों की जीवनधारा किस तरह कुण्ठित होती जा रही है। अंग्रेजी-शिक्षा में पढ़ी एक ही पीढ़ी परंपरा के सूत्र तोड़ डालने के लिये और एक ऐसे मानसिक कोढ़ी को जन्म देने के लिये काफ़ी है जिसकी रीढ़ है ही नहीं, जो न पूर्व का है और न पश्चिम का, न भूत का है न भविष्य का। भारत के लिये सब से बड़ा संकट उसकी आध्यात्मिक आस्था की क्षति है। भारत की बहुविध समस्याओं में जटिलतम समस्या शिक्षा की ही है।" (डाँस ऑव् शिव, बम्बई, 1952 पृ० 170)

कवीन्द्र रवीन्द्र और रामकृष्ण परमहंस भारत की अंग्रेजी-शिक्षा के के साँचे में नहीं ढले थे, भारतेन्दु और प्रसाद ने स्वत्व को इस ज्वाला की भेंट होने से बचाया था। विवेकानन्द भी रामकृष्ण परमहंस की ही कृपा से भारतीयता के अग्रदूत बने थे। आर्यसमाज द्वारा संस्थापित गुरुकुल, रवीन्द्र के शान्ति-निकेतन, पंजाब केसरी लाजपतराय के कौमी कॉलिज और राष्ट्रपिता के हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की मूल प्रेरणा क्या थी? योगिराज अरविन्द इंग्लेण्ड में पढ़े थे, भारत में दी जाने वाली दफ़्तरी व्यवसाय केन्द्रित अंग्रेजी शिक्षा की लू उन्हें नहीं लगी थी। कड़वी तो है किन्तु सचाई ही तो है कि अंग्रेजी शिक्षा भारत में साम्राज्यवादी शासन की जड़ें जमाने के लिये ही तो प्रवर्तित हुई थी। परन्तु आज जब कि प्रशासन के स्तर पर दक्षिण-पूर्व एशिया, अफ़्रीका एवं मध्यपूर्व साम्राज्यवाद से विनिर्मुक्त हो चुके हैं तब पृथ्वी के इस समस्त भूखण्ड में साम्राज्यवाद की स्तंभभूत भाषा का अभिभावन क्यों रहे? मैं अंग्रेजी का विरोधी नहीं, अंग्रेजी में रची मेरी कविताएं विदेशों में छपी भी हैं परन्तु इतिहास से आँख मूंदना भी मुझको स्वीकार नहीं। कभी-कभी कहीं-कहीं जब अंग्रेजी पढ़े लिखे अंग्रेजी के ही किसी भारतीय-पण्डित को मैं हिन्दी में पत्र-व्यवहार अथवा मंच से हिन्दी में भाषण करते देखता हूँ तब मन ही मन उसको प्रणाम करता हूँ। यही तो स्वाधीनता का एक संकेत है।

भाषा की समस्या भारत के लिये वैसी जटिल कदापि नहीं है जैसी कि राजनीति की कुत्सा ने बना दी है। यह समस्या सब से अधिक जटिल उस यहूदी जाति के लिये थी जिसकी अपनी हिब्रू भाषा सर्वथा मृत थी, जिस जाति के जीव प्राय: यूरोप और मध्यपूर्व की सभी भाषाएँ अलग-अलग में जानते थे। सन् 1964 में दिल्ली में संस्कृतियों के सहअस्तित्व पर एक संगोष्ठी में सम्मिलित यहूदी प्रतिनिधि श्री एलियाहू-एलथ ने बताया था कि किस प्रकार इजरायल में आकर बसने वाले प्रत्येक यहूदी को उनके राष्ट्र ने अनिवार्य सैनिक शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ हिब्रू भाषा का व्यावहारिक

ज्ञान करवाने की भी व्यवस्था की थी। इसी व्यवस्था का परिणाम है कि संसार की एक सर्वथा मृत भाषा अब संसार की एक ऐसी जीती जागती भाषा बन चुकी है जिसमें हर तरह का ऊँचा से ऊँचा साहित्य प्राप्य है। क्या हम भारतवासी इस छोटे से राष्ट्र से शिक्षा नहीं ले सकते ? क्या वह जापान हमारा मार्गदर्शन नहीं कर सकता जहाँ विज्ञान का आधुनिकतम आलोक परंपरा के साँचे में ढल कर और भी निखर रहा है।

'अंकुर' के पश्चात् 'प्रवाल' मेरी कविताओं का दूसरा संग्रह है। संग्रह की कविताओं के प्रधान स्वर की मूल चेतना का आपादन मैंने ऊपर की कतिपय पंक्तियों में किया है। माघ मेरा जन्म-मास है। पृ० ७ के गीत में इसी का संकेत है।

पंजाब के अहिन्दी भाषी प्रदेश में मेरा जन्म हुआ, अहिन्दी भाषी प्रदेश में ही मेरा लालन पालन हुआ। दश मास की अवधि छोड़ शेष अब तक का मेरा जीवन इसी प्रदेश से जुड़ा रहा है। प्रस्तुत संग्रह की सभी रचनाएँ इसी प्रदेश में मैंने रची हैं। राजनीतिगत अस्थिरता के बावजूद भारतीयता को पुष्ट करने वाली विभिन्न जातियों के अध्ययन की दृष्टि से यह धरती बहुत रोचक है। इस प्रदेश के कण-कण से मेरा रोम-रोम जैसे अंचित है। यहीं मैंने छहों ऋतुओं की शतशत भंगिमाओं में उषाओं-संध्याओं की फैलती सिमटती लाली, संध्या-तारा, भोर-तारा की लीलाओं में सम्मिलित होती अगणित तारिकाओं की लीला में पृथ्वी की गति को हेरा है। पृथ्वी के पश्चात् सौर-मण्डल के सदस्यों का साक्षात्कार भी मुझको यहीं हुआ है। सौर-मण्डलों से निर्मित आकाश-गंगाओं के रहस्य ने भी मुझको हर रात यहीं छेड़ा है। इस सब के लिये मैंने ऊर्ध्वप्राणीवर्ग की उस संबोधि, मेधा एवं विवेक को प्रणाम भी किया है जिसने समष्टि-भूति के इन रहस्यों की ओर उन्मुख करने में क्रांतिकारी कार्य किया है।

सांध्य-संदोह शीर्षक कविता में मैंने सीमा और असीम को भौतिक ईदृक्ता की इयत्ता और संभावना के रूप में ही ग्रहण किया है। उषा और संध्या भी मुझे धरा के गति चक्र के परिणामस्वरूप प्रकाश में आने वाली सापेक्षिक स्थितियाँ प्रतीत होती हैं। यह तथ्य तो अब सर्वविदित ही है कि परिक्रमा करती हुई पृथ्वी का जो गोलार्ध सूर्य के सम्मुख आ जाता है उस पर दिन और जो सूर्य की ओट हो जाता है वहाँ रात हो जाती है। जिस गोलार्ध में मैं हूँ उस गोलार्ध की संध्या को देखते समय मैंने अनेक बार दूसरे गोलार्ध की उषा की कल्पना का आनन्द लिया है। इसी प्रकार अपने गोलार्ध की उषा को देखते हुए मैंने दूसरे गोलार्ध की संध्या को भी एक साथ महसूस किया है।

किसी को संकेत करने के लिये हम नटखटपन में एक आँख खुली रख कर दूसरी दबा देते हैं। पृथ्वी के एक गोलार्ध में दिन और दूसरे में रात मुझ को सीमा सुन्दरी के क्रमशः खुलते मुँदते दो नयन ही यदि लगे हैं और इसमें भौतिकता के असीम विस्तार के प्रति सीमा सुन्दरी का संकेत ही यदि मैंने देखा है तो उस को रहस्यवाद की रूढ़ मान्यता से जोड़ना भयंकर भूल होगी। यही कारण है कि यथार्थ के प्रति सादेश हो कर भौतिकता की व्याख्या करते हुए मैंने उसके रहस्य पर अपने विचार ऊपर प्रकट किये हैं।

चिनाई के अर्थों में चिति और मापने के अर्थों में मिति शब्द का प्रयोग मैंने वैदिक वाङ्मय का आर्ष आधार लेकर किया है (पृ० ३४)। क्षण वस्तुतः काल की वह इकाई है जिस के माध्यम से हम दिक् को मापने लगते हैं। चिन्तन, प्रयोग एवं राग की हर उपलब्धि काल सापेक्ष ही तो है। यही मिति मिति है। इसके साथ ही एक के बाद एक उपलब्धि का जो इतिहास बनता जाता है वही उसकी चिति ही तो है। इस चिति-मिति द्वारा वह व्यक्त ही तो होता जाता है जो स्वतः अपनी समष्टि एवं पूर्णता में नित्य और अव्यक्त है।

किरण के सात रंग, वनस्पतियों में क्लोरोफ़िल का सिद्धान्त प्रभृति वैज्ञानिक उपलब्धियों का पर्व मैंने अपनी रचनाओं में बराबर मनाया है। प्रकाश के सिद्धान्त में वर्ण-पटल, व्याकृति और भुजायन शब्दों का प्रयोग मैंने क्रमशः स्पेक्ट्रम, रिफ़लेक्शन और रिफ्रेक्शन के लिये किया है।

मात्रिक छन्द, सॉनेट के लिये चतुर्दशी, पंजाब की कतिपय लोकधुनों पर आधारित गीत, गीत में ही षड्ऋतु मैंने अपने विविध प्रयोगों के संकेत रूप में ही प्रस्तुत संग्रह में दिये हैं। इनका सम्बन्ध भा इतर रचनाओं के प्रतिपाद्य के साथ घनिष्ठ था। प्ररोह की इन पंक्तियों में स्पष्ट की गई मेरे कवि की चेतना राष्ट्रवन्दना शीर्षक चतुर्दशी में ही संपुटित पाकर सहृदय सामाजिक वर्ग को यदि सन्तोष हुआ तब मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।

अंकुर के प्रकाशन पर जिन्हों ने मुझे आशीर्वाद दिया था उनके प्रति मेरी कृतज्ञता का वाचन यह 'प्रवाल' है।

समष्टि-भूति के एक कोने में प्रस्फुरित और स्फुट 'अंकुर' आज 'प्रवाल' के प्ररोह में परिणत होकर प्रकट हो रहा है—यह विपरिणमन भी भौतिकता के रहस्य के प्रति निवेदित है।

गणतन्त्र-दिवस
माघ, १८८८
(जनवरी, १९६७)

सुरेश
८१, साधु आश्रम,
होशयारपुर।

मंगलाचरण

समवेत गान

प्राच्य भारती
बने आरती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती।

आरती मधु संचय का गीत
गीत में वाल्मीकि ऋषि व्यास
व्यास से कालिदास भवभूति
भूति का चरित
हरित चिर भरित

साधना सिक्त सनातन हो,
संस्कृति का मन्दिर पखारती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती!

फटे पौ खुले गगन का द्वार
द्वार पर नवयुग की हो उषा
उषा के हाथ थमी हो ज्योति
ज्योति में किरण
नवल जागरण
सुबह हो नई नया दिन हो,
दिशा-दिशा आलोक वारती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती !

भूमि हो जगमग जलता दीप
दीप में जनमन का हो नेह
नेह में शिखा श्वास की जले
जले यूँ शिखा
दीप की शिखा
ज्योति अब सतत चिरन्तन हो,
असुर तिमिर का मद उतारती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती !

कमल में खुले चिरमुँदी आँख
आँख हो जीवन मधु का कोष
कोष में भरे न मरु की रेत
रेत का कोष
नहीं मधु कोष
आँख हो नई नया मन हो,
मन में मधु की बूँद धारती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती !

लदें अब फिर प्रवाल से विटपि
विटपियों पर प्रवाल का पर्व
पर्व में रचे बया नव नीड़
नीड़ का विहग
चहकता सुभग

गीत का सनत सदातन हो,
स्वर में चिर सारल्य ढारती
आज़ पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती !

पल्लवित शक्ति कलित शुभ शील
शील में कवि का गीत सलील
गीत जनमन के लिये प्रसाद
प्रसाद वितरण
कवि का हो प्रण
शील में शक्ति रसायन हो,
शंख मनीषा का पचारती
आज पुजारिन विश्व सुन्दरी
चिर सुन्दर की करे आरती !

●

किन्तु क्यों ✓

षट्पदी

स्पन्दनों के स्वर मुखर कर साँस के दो तार पर
मैं न जाने गीत कितने गा चुका हूँ आज तक
फूट जाते बुदबुदों का संकलन कर रात दिन
तुम न जाने गीत कितने गा चुकी हो आज तक
किन्तु जिससे भेद खुल जाता चिरन्तन का सभी
गीत ऐसा एक भी गाया नहीं क्यों आज तक !

●

राष्ट्री तू चामुण्डा माँ दुर्गा

● सॉनेट (चतुर्दशी) सूक्त

पुण्यप्रसू संस्कृति की धारा चिर पावन
आर्य द्रविड़ यक्षों गन्धर्वों की गंगा
सिन्धुवासिनी हिमगिरि किरीटिनी शोभन
शक्ति तीर्थ तू भारत भू देवी दुर्गा !

काली-लक्ष्मी-सरस्वती जन-संजीवन
गायत्री मंगल दात्री ऋषिकुल की त्राता
देवशक्ति अन्नपूर्णा बोध शोधन-धन
स्वर स्पन्दन तन मन में तू भारत माता !!

तू भूमि हरित लोहित हवि कर्म पताका !
हृदयस्थ विरज चक्र वरद धर्म धराका !!

नव-ग्रह सी नवदुर्गा नवरस विधायिनी
हंस-कमल-सिंह-वाहिनी तू धर्म-धरा
राष्ट्री चण्डमुण्ड दल की तू विनाशिनी
ऐं ह्रीं क्लीं बीज से पूज्या भवभय हरा !!!

बाती मोम का त्योहार

गीत

ढलते मोम का आधार
जलते सूत्र में साकार है जीवन !

मोम सा क्षण ढल रहा है
ज्योति का श्रम फल रहा है
भय न सीमा का बचेगा
आज यूँ यह जल रहा है
मोम प्रिय के मिलन का क्षण
सूत्र वनपथ वह विजन का
ज्योति जिस पर कर रही अभिसार
तम में ज्योति का अभिसार
प्रिय से मिलन का त्योहार है जीवन !

ज्योति में संपुटित होकर
तन दिशा का मलिन धोकर
ध्येय में कीलित हुआ जो
ध्यान पलभर विकल रोकर
सिद्धि वह उस मोम की है
और बाती की जलन की
रच रहे जो ज्योति का त्योहार
तम में जलन का त्योहार
जलती ज्योति का भिनसार है जीवन !

क्या विगत है क्या अनागत
क्या विदित है क्या अपरिचित
मोम है जो ढल चुका है
मोम है जो अभी अगलित

प्राण बाती मोम की है
और ज्वाला उस जलन की
तप्त अर्वाचीन का व्यापार
तम में जलन का व्यापार
दिक् का काल में त्योहार है जीवन !

मोम अब बंधन नहीं है
जलन उत्पीड़न नहीं है
वर्त्तिका का पर्व है यह
मूक का क्रन्दन नहीं है

कुटी तन के मोम की है
साँस बिटिया उस पवन की
कर रहा जो ज्योति का सत्कार
तम में ज्योति का सत्कार
बाती मोम का त्योहार है जीवन !!!

●

पर्व पल्लव का

गीत

हास का मधुमास लाना
और पतझर से प्रताड़ित
विटपियों को बाँट जाना

तुम सिखाओ मुझे मैं जग को सिखाऊँगा
शाखियों में पर्व पल्लव का मनाऊँगा !

चेतना हो तुम, मुझे छू-
कर बनाया जीव तुमने
नयन का संजय बनाया
पंक का राजीव तुमने
अभी तुम मत लौट जाना
हाय मैंने जाग कर भी
क्या नहीं जग को जगाना

नींद का तम मैं क्षितिज को सौंप आऊँगा
भोर का बन कर उजाला फैल जाऊँगा !

शिंशपाओं रक्तचूड़ों-
को विजड़ करती परसती
तुहिन के जिस सघन घन से
धरा पर जड़ता बरसती
उसे तुमने देख लेना
विजड़ होती सृष्टि से तुम
मत यूँही मुख मोड़ लेना

माघ में चुप मैं धरा पर उतर आऊँगा
फाग का मधु राग बन कर बिखर जाऊँगा !!

पीर में जब तक पिरो कर
साँस का यह सूत्र अपना
साधना के इन स्वरों में
गूँथ लूँ यह मधुर सपना
तब तलक तुम ठहर लेना
गीत गाते विकल कवि को
लय विलंबित समझ लेना

एक दिन निश्चित तुम्हारे पास आऊँगा
फूटते अंकुर तुम्हारे पास लाऊँगा !

चिर व्यथा की कथा मेरी
वीचियों की तरल लिपि में
लिख पुलिन की बालुका पर
ज्वार जब लौटे जलधि में
तब वहाँ तुम चली आना
और मेरे क्षार उर की
फेन का कर पान जाना

साँस बन कर मैं तुम्हारे पास आऊँगा
कण्ठ में तुम मैं तुम्हारे साथ गाऊँगा !

क्षितिज पर आकर मुझे मिल
फिर कभी भी छेड़ जाना
जागरण की रागिनी को
धड़कनों से जोड़ जाना
काकली में गूँज जाना
मंजरित होते क्षितिज में
रोप मधु का बीज जाना

मैं तुम्हारा कल्पद्रुम बन कर दिखाऊँगा
मिलन क्षण का मधु मधुप युग को पिलाऊँगा !

●

विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना

गीत

ज्योति के जिस क्षितिज पर मैं
तिमिर उर का वार आया
साँस की बाती जला कर
जलन का उपहार लाया
क्षितिज की उस ज्योति में मैं
मोम तन का घोल दूंगा
भेद मन का खोल दूंगा
नींद टूटेगी तिमिर को ज्योति जब चुग जायगी।
विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना पुग जायगी॥

विश्व विष का चषक लेकर
आज मेरे पास आया
और विष का चषक पीकर
आज मैं फिर मुसकुराया
अब मुझे विश्वास है मैं—
घूँट विष के पी सकूँगा
और शिव बन जी सकूँगा
शक्ति मेरी एक दिन विषपान में खिल जायगी!
विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना पुग जायगी।

आज घन की दामिनी से
पूछ अपना पंथ आया
और सीमाहीन अम्बर
प्राण में मैं बाँध लाया

आज जी भर कर बरस कर
जब धरा को सींच दूंगा
नयन तब ये मींच लूंगा

भूमि में सोई हुई निस्सीमता जग जायगी।
विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना पुग जायगी।

आज अथ की अरुणिमा को
मैं उषा पर वार आया
और संध्या के लिए भी
मांग का सिन्दूर लाया

तिमिर घिरते ही क्षितिज को
शुक्र का कर थाम दूंगा
स्वयं चिर विश्राम लूंगा

आँख मेरी मुँदेगी औ' किसी की खुल जायगी!
विश्व मन्दिर में पुजारिन साधना पुग जायगी।

मैं अनजान विवश इस पथ पर

गीत

मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूं ?
नहीं मुझे मालूम कि है इस पथ का अन्त कहाँ
नहीं अभी मालूम मिलेगा मेरा साध्य कहाँ
नहीं थके अब तक ये दो पग मेरी साँसों के
कदम बढ़ाता आया हूँ मैं अब तक रुका कहाँ
पथ की धूली तन पर अपने कब तक और मलूं ?
मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूं ?

हुआ बोध कब मेरे अथ को इस पथ के अथ का
हुआ बोध कब मेरी इति को इस पथ की इति का
बँधा हुआ हूँ मैं अथ-इति में, मैं निरपेक्ष कहाँ
नहीं दिया है भेद मुझे अथ-इति ने इस पथ का
कब तक मैं सापेक्ष यहाँ अथ-इति के बीच गलूं ?
मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूं ?

रहे दिवस निशि रवि शशि तारक मेरे साथ सभी
धरती औ' आकाश जलधि सब मेरे साथ अभी
अभी न जाने कब तक साथ रहेगा युग-युग का
चल कर बाट न तय हो क्या यह संभव हुआ कभी
कब तक खोज निरत लौ मैं बन धीरज नेह ढलूं ?
मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूं ?

निशा शरद की आकर इस पल मेरे पास खड़ी
पीर चाँद की पुनः जलधि के उर में जाग पड़ी
आज कही जो बात जपा ने रक्तचूड़ ने भी
हरसिँगार ने मौन लगादी उसकी आज झड़ी

कितनी बार झरूँ चुपके मैं कितनी बार खिलूँ ?
मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूँ ?

सुबह न जाने होगी कब जब मेरा चाव चुके
फटे कहीं पौ और उजाला कण-कण बीच छके
निकलेगी कब उर से घोर तिमिर सी पीर गड़ी
ऊषा की लाली पर उर जब सब कुछ वार सके

माटी का मैं दीप कहो अब कब तक और जलूँ ?
मैं अनजान विवश इस पथ पर कब तक और चलूँ ?
कब तक और चलूँ ?

●

सूत सबके पास

षट्पदी

कह भी दूँ किसे मैं ज़िन्दगी की बात,
समय किसके पास सुनने के लिए है,
बात जिस से की उसी को देखता हूँ,
बहुत उसके पास कहने के लिए है,
समय का करघा कि उस पर ज़िन्दगी का—
सूत सबके पास बुनने के लिए है।

●

दूर से ध्वनि आज कोई

गीत में षड्ऋतु

दूर से ध्वनि आज कोई आ रही है
आज मेरी कल्पना अभिसारिका सी
प्राण का संगीत कोई ला रही है !

गा मधुप का गान बन मधुमास छा
अन्तरा सुकुमार उर के गीत का
विटपियों की डालियों पर आँक कर
किसलयों के राग को स्थायी बना

रंग जिससे खेल आया श्वास मेरा
चेतना वह फाग कोई गा रही है !

जीवनी अनुभूति की गेहूँ हरी
जेठ में तप कर बने कंचन खरी
कृषक बन कर गीत आए खेत में
छन्द नाचे गीत की बन कर्त्तरी

फ़सल कटने के वरद दिन आ गए फिर–
स्वामिनी खलिहान की ललचा रही है !

रूप के बादल, ठहर तू बरस ले
आज चपला चेतना भी विलस ले
सुलग कर फिर आज सुरधनु स्वप्न भी
विश्व के सहमे क्षितिज को परस ले

आज सिच कर सरस होने के लिए फिर–
उर्वरा उर की धरा अकुला रही है !

चाँदनी की तरह मेरी रागिनी
फैल जाए मौन शारद हासिनी
भूमि माँ का दूधिया आँचल बने
क्षितिज तक उड़ती फिरे उल्लासिनी

किस प्रजाता की न जाने आज चुपके
गंध घुल कर साँस में लहरा रही है!

ईख की ही तरह मेरी साधना
धरा के कर में सजी आराधना
ज़िन्दगी के शिशिर में होकर सरस
पौष का बन जायगी गुड़ पावना

गीत मेरा खुद लगाएगा कुल्हाड़ी
साधना की ईख बोई जा रही है!

नाक भौं यूँ ही चढ़ाता क्रुद्ध रहा
फूल कलियों पत्तियों पर चिढ़ रहा
चीर हरता द्रौपदी सी धरा का
नीच पतझर जिस समय हो बढ़ रहा

कृष्ण बन कर उस समय स्वर सजग होगा
कोंपलों की कल्पना मुसका रही है!
दूर से ध्वनि आज कोई आ रही है!!!

●

मैं तुम्हारे सदन में

गीत

मैं तुम्हारे सदन में नित घूम आता हूँ !

चपल विद्युत्तूलिका से
असित बादल के पटल पर
भव्यता की कल्पना को
चित्र की लिपि में बदल कर
जो दिखाती हो मुझे तुम
उसे ही स्वर में सँजो कर
मुखर करता झूम जाता हूँ !

स्मित बदन बन सहज सुरधनु
करुण बूँदों में बरस कर
जटिल उर की ग्रन्थियों को
धरा के उर में परस कर
खोलती हो जिस तरह तुम
उस तरह हर हृदय का स्वर
सोध सुधि में रूम जाता हूँ !

नयन मेरे नींद से जब
बाँध छिपतीं तिमिर में तुम
स्वप्न के स्वर में तभी मैं
पूछता हूँ 'कहाँ हो तुम ?'
बोलती हो नहीं जब तुम
खोज में उर को जला तब
ज्योति का बन धूम जाता हूँ !

द्वार पर आकर क्षितिज के
उषा की जिस अरुणिमा सी
झाँकतीं मिलतीं मुझे फिर
साँझ के सँग लौट जातीं
राग की वह कामिनी तुम
मुग्ध मैं जिसके अधर पर
अधर धरता चूम जाता हूँ।
मैं तुम्हारे सदन में नित घूम आता हूँ !!!

●

कहते हैं

षट्पदी

सौ सौ बूंदें बरसा कर ज्यों
घन सावन का भी छट जाता,
शत पाण्डुर पत्र गिरा भू पर
ज्यों पतझर भी टल-हट जाता,
सौ आँसू रो लेने से त्यों
कहते हैं दुख भी घट जाता।

●

घिरे बदरवा घिरे

सिन्धु देश को गये सजनवा

घिरे बदरवा घिरे

गीत

पवन पंथ से फिरे
बदरवा घिरे !

तरल हो गई ज्योति जलन की
धूम व्यथा का सजल हो गया
पुलक जग गई पुनः श्वास में
सुधा सिन्धु का सलिल हो गया
पवन पन्थ पर टिके नयनवा
देख सजन को भरे
भरे नयनवा भरे
सिन्धु देश को गये सजनवा
पवन पंथ से फिरे
बदरवा घिरे !

श्वास छू गया चिर असीम का
जड़ सीमा की आँख खुल गई
उठ बैठा फिर आज जागरण
अँगड़ाई में नींद घुल गई
स्वप्न लोक को गये बयनवा
लौट अधर से झरे
झरे बयनवा झरे
सिन्धु देश को गये सजनवा
पवन पंथ से फिरे
बदरवा घिरे !!

चली शून्य पथ धरा उन्मना
बूंद झरी क्या सृष्टि मिल गई
पुनर्मिलन के कलहंसों में
धवल कुन्द की कली खिल गई
किरणों के सतरंग सुअनवा
सुरधनु में फिर ढरे
ढरे सुअनवा ढरे
सिन्धु देश को गये सजनवा
पवन पंथ से फिरे
बदरवा घिरे !

ओ चिर नीरव

गीत

वर खग रव का दे तुम नीरव
ओ चिर नीरव
प्रात का बन आलोक रहे
निशा में क्यों तुम मेरे साध्य
अरे आराध्य
स्वप्न का रचते लोक रहे !

लहराया अरुणांचल नभ में
सर सरिता पर सागर भू में
उर्वर मरुथल समतल गिरि में
आज फिर जलज नयन उन्मील
तिमिर को कील
सृष्टि को मौन विलोक रहे
निशा में क्यों··· ··· ··· ··· !!

मुसकाता जो तारा अब भी
करुण कथा वह बीती निशि की
कहता दीप पुजारी अब भी
आज कर निज में उसे विलीन
ज्योति में लीन
मिलन का रच चिर अोक रहे
निशा में क्यों··· ··· ··· ··· !!

वंशी पर स्वर जो लहराया
उसने अनुभव वह दुहराया
जो स्पन्दन संचित कर लाया
रन्ध्र में करके मरुत विलोल
शून्य में घोल
हृदय का हर चिर शोक रहे
निशा में क्यों··· ··· ··· ··· !!

पूजा की मैं जोत

गीत

माटी का मैं दीप जला पाओगे तुम मुझको उतना
आहत उर का स्नेह पिला पाओगे तुम मुझको जितना !

अन्धकार की चिन्ता कब मुझको मैं इसका चिर अभ्यासी हूँ
छाया में आलोक हँसा करता इस सच का चिर विश्वासी हूँ
भीमकाय तम अभी नहीं समझा मैं इसके उर का वासी हूँ
मौन मगर मैं भेदी लंका का रावण का सत्यानासी हूँ

अंधकार को चीर धरा को कर दूँगा ज्योतित उतना
मुझे जला कर दूर करोगे तुम मेरे गुल को जितना !

लोहा जो लेती हर संकट से मैं ही वह शक्ति भुजा की हूँ
तम जिसके चरणों पर जा गिरता मैं लौ उस दीप शिखा की हूँ
पौ फटते जो पा जाती निर्वाण वही मैं दृष्टि दिशा की हूँ
ताराओं के जलते अनगिन दीप यहाँ कब मैं एकाकी हूँ

पूजा की मैं जोत जगा पाओगे तुम मुझको उतना
दीवाली का पर्व बना पाओगे तुम मुझको जितना !

बनता जाता तन वह संपुट बूँद एक ही चिरधन जिसका है
श्वास हुआ जाता अब वर्ती बन्धु स्नेह कब बन्धन उसका है
मौन हुआ जाता यति योगी बाधा अब कब क्रन्दन जग का है
तम को लील रहा जो वह ही लौ में परिणत स्पन्दन उर का है

असुर तिमिर के विकट कपट को लील सकोगे तुम उतना
जीवन का संकल्प बना पाओगे मुझको तुम जितना !

●

ज्योति का सस्मित अभिवादन

जीवन मेरा चिर सुन्दर की साँस
हृदय यह मेरा उसका उर
स्पन्दन उसका एक चिरन्तन गीत
गीत यह मेरा उसका स्वर !

गीत वरद वह सपनों का संगीत
गूँजता जिसमें नवजीवन
वर्तमान में ढलता जहाँ अतीत
अनागत खिलता संजीवन !

पी लेता हूँ हँस कर विष के घूँट
बाँट कर अपने मधुमय क्षण
हँसी यही उस जीवन का आधार
सरस स्वर जिसके रिसते व्रण।

अक्षर है चिर सुन्दर का आधार
नाद के मुकुलों का कानन
षट्पद जैसे षड्ज ऋषभ गंधार
चूम लेते 'सब का आनन !

सुरति निरति मन प्राण जहाँ एकाग्र
शून्य के रस का मधु वर्षण
मुखर होता जिससे आकाश
श्वास का वह घन संघर्षण !

मौन डाल कर ध्वनि तरंग का पाश
घुमड़ घिरता जो अंतर्मन
कौन, गगन की द्युति में कौन विराट
जोड़ता अमित मरुत का धन।

स्वतः ज्योति जब नभ के खोल कपाट
मरुत का करती आलिंगन
तभी मिलन वह स्वर में होता मुखर
बीन पर अंगुलि परिचालन!

अन्तरिक्ष में लहराता जो सतत
अनाहत निर्विकार जो मन
कण्ठ मूल से होता स्वरित अकार
नहीं क्या उसका उन्मीलन!

उन्मीलन वह गीत प्रात की ज्योति
श्वास की क्रीड़ा का कानन
सुभग अधर पर वही चहकता विहग
ज्योति का सस्मित अभिवादन!
ज्योति का सस्मित अभिवादन!!

●

खुद देखो

षट्पदी

खुद देखो उपवन सा खिल कर
पतझार यहाँ पर कितने हैं,
खुद देखो समिधा सा जल कर
अङ्गार यहाँ पर कितने हैं,
मत पूछो मुझ से विपदा के
अम्बार यहाँ पर कितने हैं!

●

सान्ध्य सन्दोह

फिर पश्चिम के अंबर में
छाई अरुणाई छाई
खग लौट रहे नीड़ों में
आई फिर संध्या आई !

परिरंभ धरा से दिन का
सतरंग किरन से झर कर
होने फिर लगा शिथिल है
सप्तम आकाश परस कर !

दृग मूंद चूम मुख भू का
दे रहा दिवस आश्वासन
'आऊँगा फिर लाऊँगा
किरणों के अभिनव भूषण' !

नतनयना धरती कहती
'तुम ही मेरे आभूषण
ओ रे चिर प्रियतम मेरे
जीवन के तुम आश्वासन।

केवट सतरंग किरण के
उन सँग गति-डाँड़ डुलाना
खेकर तरणी दिन कर की
तर शून्य जलधि फिर आना' !

खग का कलरव दिन का स्वर
कलरव धरती की वाणी
स्वर का वाणी का संगम
क्या संध्या यह कल्याणी !

दृग मूँद चूम मुख भू का
दे चला दिवस आश्वासन
यह संध्या की लाली क्या
सलजा का आनत आनन !

खगकुल का कलरव ही क्या
ऋषिकुल का मन्त्रोच्चारण
क्या हवन कुण्ड की ज्वाला
हैमी संध्या रागारुण !

हो उदित पुनः छिपता दिन
क्या परा शक्ति है स्वर की
क्या निशा उसी की अपरा
संध्या मध्यमा उसी को !

जो भेद कर रही प्रज्ञा
प्रकृति आलोक पुरुष में
क्या श्रद्धामयी वही यह
संध्या है काल कलश में !

आलोक पुरुष क्या कोई
अवतारी श्रद्धा भाजन
जिसके चरणों पर संध्या
धरती की पूजा का धन !

प्रतिपदा मध्यमा जैसी
क्या गैरिक वसना संध्या
प्रज्ञा धरती माता के–
हाथों की महँदी संध्या !

वह दीपशिखा प्राची की
संध्या संस्कृति की बेटी
थक कर क्या फिर पश्चिम की
गोदी में सिर धर लेटी !

क्या नृप दिलीप यह दिन है
रानी राका अभिनंद्या
सुतकाम युग्म की साध्या
क्या यही नंदिनी संध्या !

हो प्रणत क्षितिज मन्दिर में
अन्दाल नाम्ना युवती
वह किसी देव की दासी
सन्ध्या क्या पूजा करती !

गोधूली की वेला में
घर लौट आ रहे गोधन
संध्या भी गोपवधू ज्यों
सब सूर स्याम के भावन!

ढलते दिन की यह लाली
क्या चिता सुलगती कोई
पद्मिनी बैठ कर जिस पर
फिर चिर निद्रा में सोई!

अम्बर चित्तौड़ वही क्या
पश्चिम क्या दुर्ग वही है
तम यवन नृपति पर जिसमें
संध्या हँस सुलग रही है!

हो गई प्रकट संध्या में
क्या किसो क्रान्ति की ज्वाला
तन के दिन मन के तम का
जिसने मंथन कर डाला!

किरणों की तूली लेकर
चल लहरों में कर मज्जित
मणि मुक्तामय अनुभव को
रवि करता रहता अंकित!

क्यों अपनी अंकित लिपि को
अपने ही आप बुझा कर
रवि दूर कहीं चल देता
तूली को विवश उठाकर!

चल उतर क्षितिज पर दिन फिर
क्या निशि को पास बुलाता
जा रहे विदेश स्वजन सा
समझा कुछ बात बुझाता!

भू डरे न कहीं अकेली
इसलिए पास क्या आती
वह निशा पड़ोसिन दिन की
आ तारक दीप जलाती!

हो उदित गगन के उर से
फिर अरुणा वही उषस की
आती क्या सूचित करने
निशि से यह सन्धि दिवस की !

अथवा कर विदा दिवस को
भू पास निशा के जाती
भर सिन्धु-अंक शशि शिशु को
झुक झूम चूम दुलराती !

तम की मधुशाला वाली
मधुबाला क्या फिर आई
भर सुरा पात्र संध्या का
क्या तम को देने लाई !

तम में घुलती यह संध्या
क्या कुसुम कनेर विटपि का
कर्णावतंस कर जिसको
हो गई दिशा फिर कपिशा !

शृङ्गार किया करती है
सुन्दरी समय की जिनसे
क्या राग रजिता सध्या
इक सजा अंग है उनसे !

क्या प्रकट राग की दूती
ऊषा है उदय-मिलन को
संध्या क्या अस्त विरह की
दूती ढलते तन मन की !

नित मिलते विरह मिलन हैं
नव नित अभिनव बन आता
अणु अणु में क्षण का चित् का
संचार नहीं रुक पाता !

शृङ्गार यहाँ अणु अणु का
नित सुलझ सुलझ है जाता
क्यों अणु से विकसित जन मन
फिर उलझ उलझ नित जाता !

रवि शशि तारा के क्रम में
ऋतु ऋतु का अभिनय होता
अभिनयमय जीवन का क्षण
उत्थानपतनमय होता!

कब बूँदों वाला सागर
कब जीवन ही क्षणमय है
गागर में भी है सागर
क्षण भी तो जीवनमय है!

हँस खेल खेल कर दिन भर
चल जल की लहर-लहर से
रवि किरणें लौट चलीं फिर
तरु वन गृह गिरि गह्वर से!

चल लहरों को तज भू पर
भू से तरु गिरि शिखरों पर
वे स्वर्ण लोक की खगियाँ
उड़ चलीं क्षितिज को छूकर!

नीड़ों में लौटे पाँखी
किरणें भी लौट चली हैं
होंगे इनके भी कोई
जिनको ये लौट चली हैं!

सुनता हूँ पार क्षितिज के
इक धरती है ऐसी ही
धरती यह जैसी मेरी
वह धरती भी ऐसी ही!

उस धरती पर चल जल भी
लहरों की भी हैं नीड़ें
लहरों से मिलने वाली
खगियों की भी हैं भीड़ें!

जब आँख मुँदा करती है
जब रात इधर हो जाती
सुनता हूँ उस धरती पर
तब भोर उधर हो जाती!

जब आँख खुला करती है
जब भोर इधर हो जाती
सुनता हूँ उस धरती पर
तब रात उधर हो जाती !

क्या ऊषा की लाली ही
संध्या है उस धरती की
क्या संध्या की यह लाली
ऊषा है उस धरती की !

क्या खिलते कमल इधर तब
जब उधर कमल मुँद जाते
क्या खिलते कमल उधर तब
जब इधर कमल मुँद जाते !

इक नयन दबा कर अपना
दूसरा खुला रख हँस कर
संकेत किया करती क्या
सीमा असीम को उर धर !

क्या किरण श्वेत वह रवि की
जिसमें सतरंग घुले हैं
अणु पर गिर बिखर बिखर कर
जिससे सब रंग ढले हैं !

क्या परावृत्ति किरणों की
वर्णों की है यह लीला
अणु के ही वर्ण पटल पर
किरणें हैं व्याकृति शीला !

सामने क्षितिज पर अंकित
सन्ध्या की जो आकृति है
क्या दूर हो रहे रवि की
किरणों की वह व्याकृति है !

अणु में परमाणु घटित जो
उस में चित् की अभिलाषा
चित् का ही सतत भुजायन
व्याकृति के जग की भाषा !

अणु की विलसित व्याकृति में
सौंदर्य यहाँ जो देखा
वह वर्णपटल पर बिखरी
क्या श्वेत किरण की रेखा !

जो अन्तरिक्ष का यात्री
छू रहा चाँद के तल को
क्या देख सकेगा वह भी
सन्ध्या के रक्तोत्पल को !

गुरु शुक्र भौम शशि बुध से
क्या दिखती होगी सन्ध्या
संकेत इधर इस भू के
जाते होंगे उन तक क्या !

संकेत उधर उनसे भी
करती होगी क्या सीमा
ऊषा सन्ध्या उनमें भी
रचती होगी क्या भूमा !

दर्शन विज्ञान कला ने
देखा सन्ध्या को जैसे
ऊषा को दिवस निशा को
वे देख रहे हैं वैसे !

दर्शन विज्ञान कला ने
कर देश काल का मन्थन
नवनीत निकाल लिया जो
क्या वह सुन्दर का चिर धन !

मन्थन हो रहा अभी भी
यह क्रम न थमा न थमेगा
चिर खोज निरत लौ वाला
यह दीपक नहीं बुझेगा !

दर्शन विज्ञान कला की
यह खोज निरत चिरवाणी
सौंदर्य जलधि के दधि का
मन्थन कर रही मथानी !

प्रतिदिन हो उदित उषा में
सन्ध्या में जो अवसित है
चित् की वह अविकल लीला
किरणों में क्या विलसित है !

जिन विगत वंचनाओं की
स्मृति छिपता दिन दे जाता
हो उदित अनागत तम में
क्या उनका भय घिर आता !

जो अस्त उदय का जीवन
स्पन्दन की करुण कथा है
वर्णों की तरह किरण में
उसकी क्या छिपी व्यथा है।

कितने जो सोचा करते
क्यों सन्ध्या है यह सन्ध्या
है किसके पास समय जो
सोचे ऊषा क्यों ऊषा !

प्रकृति के पथ पर चलती
अरुणोदय समय मनीषा
चलते हो जाती सन्ध्या
खिलती न कहीं विजगीषा !

होती रहती प्रकृति में
प्रतिबिम्बित जो आकृति है
सामाजिकता की भी क्या
उसमें न कहीं व्याकृति है!

सामाजिकता का मुझ को
क्यों कहते बोध नहीं है
सामाजिकता का सपना
बोलो क्या सत्य कहीं है!

छाया काली छाया को
सामाजिकता मत बोलो
मत तोलो छाया से अब—
काया से जीवन तोलो!

क्या मिल का बजता भोंपू
पूँजी का नहीं अहं है
सामाजिकता पद तल में
क्या नहीं निपीड़ित श्रम है!

अम्बर की मिल से बाहिर
आती मज़दूरी करके
जाती अपने घर सन्ध्या
दिन चर्या पूरी करके!

स्वर विहगों की टोली का
मज़दूरों का कोलाहल
अथवा दफ़्तर से निकले
बाबू लोगों की हलचल!

पिट कुण्ठा से सिर धुनती
सामाजिकता कल्याणी
स्वर विहगों की टोली के
साधन से वंचित प्राणी!

अम्बर की विषमय मिलका
विष पीकर जीने वाली
श्रममयी साँझ के मुख पर
केवल सपनों की लाली !

इस लाली की लपटों से
अँधियारों को ढो ढो कर
अम्बर में खपती रहती
हर साँस धुआँ हो हो कर !

साँसों का खपते रहना
मुझको स्वीकार नहीं है
जब तक अम्बर की मिलका
अभिनव आधार नहीं है !

साँसों से आग उगल कर
जड़ता की राख बनाता
सामाजिकता का सपना
भैरव संदेश सुनाता !

दुर्योधन नहीं विदुर का
भोजन ही जिसका भोजन
वह नहीं मलिक भागो का
लालो का हो वह पाहुन !

हों राजे जहाँ कुचाली
वह है कैसी मानवता
हों जहाँ मुकद्दम कुत्ते
वह कैसी सामाजिकता !

पल रही नयन में मेरे
इक ऐसी नई व्यवस्था
जल राख हो सके जिसमें
भू की हर इक दुरवस्था !

श्रम और मनीषा का जो
पीते हैं लहू पसीना
सामाजिकता उनकी है
खटमल जैसा ही जीना ! !

मानव रे मानव तेरी
भू पर जो प्रगति कथा है
शोषित श्रम और मनीषा-
की उसमें घुली व्यथा है ! !

श्रम और मनीषा की क्या
सन्तान नहीं वे साधन
श्रम और मनीषा का जो
कर नहीं सके आराधन !

जन मानस डूब रहा है
सत्ता के कुत्सित युग में
जन तंत्र अभी भी बंदी
पूंजी के कारागृह में !

धर दिया जला नभ में जो
संध्या ने दीपक अपना
झलमल वह शुक्र नहीं क्या
सामाजिकता का सपना !

स्वर मौन पड़े नीड़ों के
वन पथ में विजन खिला है
फिर लौट क्षितिज से आकर
धरती से तिमिर मिला है !

माँ कामधेनु यह संध्या
प्राची पश्चिम में आकर
करती पालन मुझ शिशु का
पय अपना पिला पिला कर !

इस कामधेनु के पय में
लय वत्सलता की पाकर
करता प्रणाम जननी को
लय में उसकी ही गाकर !

जो पाल मुझे कुछ दिन ही
जा मिली पुनः धरणी को
पाता हूँ पा लेता हूँ
इस लय में उस जननी को !

अब देख रहा हूँ जैसे
तम में डूबी धरणी को
देखा करता हूँ वैसे
प्रतिदिन संध्या जननी को !

रो झींगुर तू ही रो अब
अब रोता नहीं कभी मैं
रोकर कापुरुष कहाना
स्वीकार नहीं सकता मैं !

अपनी अरुणा जिह्वा से
चुप चाट शीश यह मेरा
वात्सल्य साँझ जो देती
सौभाग्य विपुल वह मेरा !

●

एकांकी तथा संकलन

एक अंक है यह सब जीवन
चेतन का अभिनय जड़ साधन
गर्व करूँ क्या खेद करूँ क्या
गर्व खेद भी अभिनय के धन !

प्रश्न यही है एक सनातन
अहह पहेली यही चिरन्तन
मेरी इच्छा यह क्या है
चेतन हूँ मैं अथवा जड़ तन !

क्षार सिन्धु का उर चिर उन्मन
घिरता रहता सावन घन बन
बरस बरस कर परस धरा को
नहलाता करुणा का चिन्तन !

होकर सर सरिता में निःस्वन
लहरों के स्वर का उद्वर्तन
क्षार सिन्धु को प्रत्युत्तर है
चिन्तन रत भू का प्रतिवर्तन !

कुन्द कली सा शैशव पावन
गन्ध त्रिपुट सा यौवन मादन
फल में परिणत होकर पकते
फूलों जैसा यह तन अनुदिन !

श्वासों पर वीणा का वादन
वीणा पर स्पन्दन का गायन
वादी अनुवादी संवादी
विविध स्वरों का एक रसायन !

उदय अस्त में विहित संकलन
जन्म मरण के मध्य संचरण
यह सब जीवन एक अंक है
देश काल का चिर परिसीमन !

●

दीवट-पनघट

तन मेरा दीपक माटी का
जल रहा सृष्टि के दीवट पर
धर रहा तिमिर से खोज रतन
फैले प्रकाश के चल पट पर।

सिर पर धर ज्योति कलश पावन
पनिहारिन साँस चली आई
पनघट जो स्नेह भरे उर का
उस पनघट से घट भर लाई!

उर स्नेह भरा चिर खोज भरा
लहराती खोज तरंगों में
हर स्पन्द नवल नव ज्योति कम्प
स्फुट सहज सतत सतरंगों में।

हर ज्योति कम्प उपलब्धि नवल
नव इंगित खोज भरे उर को
घट जीवन का चिर ज्योति कलश
आशीष खोज के हर स्वर को।

●

मैं चिरन्तन गान . . .

गीत

मैं न उस क्षण का विरोधी
नित्य की ही जो कि मिति है
और हर उपलब्धि जिसकी
नित्य की ही एक चिति है
व्यक्त, क्षण में व्यक्त है जो
नित्य मिति चिति का चितेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

बरसते कब किरण दल से
कण रजत के स्वर्ण के शत
बरसते वे तो गगन से
अर्थ के आयाम शत शत
पात जैसे शब्द का जो
सतत उन पर हरित घेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

सिन्धु की अनुभूति घन बन
किरण दल को लोलती है
कब गगन वह भूमि को भी
पौध में उनमीलती है
किरन-घन का दीखता जो
भूमि नभ में युग्म फेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

सूक्ष्म नभ को छू नयन से
स्थूल भू पर उतर कर फिर
पा रहा है तीर्थ नूतन
मन पथिक फिर फिर विचर कर
कर रहा हर तीर्थ में जो
वितत शत इंगित सवेरा
मैं चिरन्तत गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

स्थूल ही अस्तित्व कब है
सूक्ष्म भी अस्तित्व कोई
सूक्ष्म से भी और ऊपर
स्यात् पर का तत्त्व कोई
सौर मण्डल में बंधा जो
धरा का गति चक्र हेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

गगन की अयि तारिकाओ
उतर आओ तुम धरा पर
भेद अब सब खोल दो अयि
शक्ति का वह चिर परात्पर
लीलता रहता तुम्हें जो
ज्योति का रच रच बसेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

पहुँच मंगल शुक्र गुरु पर
मनुज रोपेगा वहाँ क्या
कपट कुत्सा विकट शोषण
या कि सुन्दर और कुछ क्या
मनुज का देवत्व चिर जो
रहा सत् का सतत चेरा
मैं चिरन्तन गान उसका
और वह चिर मौन मेरा !

●

इक झाँसी नई बसानी है !

बरसाती गोली बूँदों की
अत्याचारी की छाती पर
करती भूडोल भवानी सी,
काले घोड़े पर बादल के
अम्बर में कौन चली आई
यह झाँसी वाली रानी सी !

सुन पड़ती टप टप टप टप टप
पग चाप यहाँ घन घोड़ों की
इस बहते आँधी पानी में,
फट फट फट फट फट फटक-फटक
ध्वनि आग उगलती तोपों की
चपला की चोट जवानी में !

दिन आया है आज़ादी का
सतावन सन में बँटे कमल
रोटी की रामकहानी का,
क्या पर्व मनाने अम्बर में
यह सावन नाटक खेल रहा
उस झाँसी वाली रानी का !

शत बार विलोड़न कर बैठा
इस क्षार जलधि के उर का जो
स्पन्दन की स्निग्ध मथानी से,
क्या खोज रहा नवनीत वही
बुन्देले हर बोलों के मुख
रानी की सुनी कहानी से !

साम्राज्य विदेशी ढहा किन्तु--
जो पूंजीवाद मदान्ध अभी
उसकी दीवार गिरानी है,
जनतन्त्र अभी मेरा अपूर्ण
मदहोश महल को कुटिया की
सत्ता अब भी दिखलानी है !

धरती माता की छाती पर
तूफ़ान विकट है खेल रहा
अणु उदजन की मनमानी का,
त्योहार अभी भी शेष यहाँ
शोषण के शोणितमय नख की
होती निःशेष निशानी का !

आँखें हैं मेरी प्राची पर
संस्कृति का मेरा सूर्य कहाँ
वह अब भी एक कहानी है,
जीवन में सुरधनु कहाँ यहाँ
अभिनेता सावन को मैंने
अब भी यह बात बतानी है !

सत्तावन सन के संकल्पो
तुम आओ आज उतर आओ
इक झाँसी नई बसानी है,
संस्कृतियों के इस संगम पर
इक मन्दिर नया बनाना है
इक पूजा नई सजानी है !

क्या सुन्दर वह नाटक नभ का
जब धरती का नाटक अब भी
बहते आँखों के पानी का,
आओ गाओ अब सब हिलमिल
बदलेंगे भाग्य पलट देंगे
भारत माँ धरती धानी का।

●

बदरिया बरस रही क्रान्ति की भीगती शंका

चण्डीगढ़ में सावन की एक रात

शैल शिखरों से उतर कर
किसी बाँदी की तरह सावन घटा
राजरानी चण्डीगढ़ को कर रही निष्णात
अब तो हो गई है रात
लेकिन यह थमी अब भी नहीं
पानी घड़ों अब भी उलटती जा रही
मानो कि कुछ इतिहास के पन्ने पलटती जा रही !

मध्य युग की विवश दासी झोंपड़ी
औ' महल के महाराज की ज़ालिम कहानी
जिसे शोषण की कलम लिखती रही
वह बदल कर हो चली कुछ और है
बाँदी नहीं अब विवश दासी है
वह भी बदलकर अब हो चली कुछ और है
इसलिए ही राजरानी की बिना परवा किए
पानी घड़ों अब भी उलटती जा रही
किसी क्रान्ति की तरह सावन घटा !

× × ×

नींव ने भी कुछ बताया है
कि मुझ पर महल का अस्तित्व है
महल को भी हुआ कुछ अनुभव
कि नीचे नींव का भी कुछ महत्व है
लेकिन 'कुछ' समझने से
नहीं 'सब कुछ' समझ आता
यह इक सच है

कड़वा बहुत यह है
फिर भी सच है
कि केवल कुछ समझने से
नहीं सब कुछ समझ आता,
महल में कुछ समझ आई
मगर वह कुछ नहीं सब कुछ
राजरानी तो महल में बैठ कर
कुछ कर रही हल
रीति नीति की पहेली को
सावन की घटा रुक कर उधर
उन झोंपड़ों के पास
जिन्होंने किया है महल का निर्माण
विस्मित देखती है
कर रहे हैं नाच
बेसुध दैन्य औ' करुणा वहाँ
उन झोंपड़ों के बीच
जिनमें खड़ा होना भी नहीं संभव
ऊँचे हैं कि कुल फ़ुट पाँच
चौड़े हैं कि कुल फ़ुट पाँच
वे हैं झोंपड़े
अस्थिर अस्थायी
जिन्हें करवाया है खड़ा
उस एक ठेकेदार ने
जो खुद महल में—
बसता विहँसता मौज करता है
राजरानी से समझौता कर
बनवा रहा है
महल के कुछ पहलू
औ' छिपा कर रख रहा उन झोंपड़ों में
पशुओं पालतू पिल्लों के बसने योग्य
छोटे तंग घिनौने उन घरोंदों में
उस मज़दूर जीवन के—

कसकमय तथ्य का पहलू
कि जो इस राजरानी के महल का—
रूपदाता है
कि जो इस महल का लोहू पसीना है
अस्थि मज्जा है
निर्माता विधाता है !
छिपा कर तथ्य को
दीन हीन श्रम के इस तथ्य को
झोंपड़ों में उन घरोंदों में
ठेकेदार बैठा मस्त है ऐसे
कि जैसे ज़िंदगी का सच छिपाने का
लिया हो उसी ने ठेका,
तभी तो राजरानी के महल में
आज टिक कर चल रहा है
दाँव वह ऐसे
कि जैसे सब मलाई दूध औ' चूहे चटम कर
पालतू पूसी चरण पर बैठ
अधमुँदी आँखों रही हो मालकिन को देख,
ठेकेदार वह
सोने चाँदी के लिए
भरपूर समझदार वह
अभी इस सच से दूर है
कोसों दूर
कि बनवाने बनाने में
बहुत कुछ भेद है
कि बनवाना बहाना है
बनाना जबकि सच को स्वयं पाना है !
यही है सच
कसकमय सच
जिसको ज़ोर से
भरपूर अपने ज़ोर से
अब सुनाती बरसती ही जारही
किसी दूती की तरह सावन घटा !!
× × ×

यही है सच
कसकमय सच
करता जा रहा है भेद जो
'कुछ' और 'सब कुछ' में,
औ' इस भेद को भी दूर करने के लिए
'कुछ' को पलट कर
'सब कुछ' में बदलने के लिए
करवट आ रही है खुद
युग के रूप पनघट पर
मगर है एक यह शंका
कहीं पर प्रलय घिर आए
कि कोई नाग डस जाए
कहीं फिर उखसीआ्रम पर घिरे संकट
कि कोई बौद्ध जल जाए
कहीं फिर होम हो लिंकन वरद गान्धी
कि गोली दनदनाती धाँय केनेडी एक फिर खाए
कि कोई वज्र गिर जाए
तो होगा क्या ?
घनी शंका
अँधेरे सी घनी
न जाने यह दिखा दे
कौन सा कब रंग,
राजरानी के महल में
घूमती है आज यूँ शंका
कि जैसे घूमती छाया
सिमटती फैलती रह कर
कभी आगे
कभी पीछे
मनुज की देह के ही संग,
वही शंका
घड़ों पानी कि जिसका सहज ही
अब भी उलटती जा रही
मानो कि कुछ इतिहास के पन्ने पलटती जा रही

निश्शंक औ' निर्भीक जैसे नायिका !
ऊँघते उन्निद्र चिर मुद्रित दृगों
कुण्ठित कदर्थित कर्ण कुहरों
शिथिल शोषित शिराकुल शतशत रगों
सुप्त उर के स्पन्दनों
गति शून्य पाणि पगों में
सजगता की साधिका उन्नायिका
पहरुए की हाँक जैसी अचकिता
वह प्रगल्भा वाग्मिता
चामुण्डा वह चण्डिका
बजाती शक्ति का डंका
बदरिया बरस रही क्रान्ति की
जबकि इधर
बारज पर
मौन खड़ी
भीगती शंका !!!

●

पुनर्नवा

काटो मत
बाँटो मत
इस तरह मुझको
भूलो मत
विगत अनुभव को
अयि कुण्ठाओ कुत्साओ
स्वार्थ लोलुप अयि द्विरसनाओ
अनुभूति की अखण्डता को
आज रहने दो सतर्क,
शक्ति का मधुपर्क
पीने दो
जीने दो
आज तुम मुझको
इतिहास योरुप एशिया का ही नहीं
नव अस्तित्व का भी
गुनने दो
गढ़ने दो
आज तुम मुझको
क्योंकि मैं हूँ राष्ट्र की—
युगचेतना—स्वाधीनता की साँस
पुनर्भवा पुनर्नवा !

●

पर्व समर्पण का

चाँदनी के प्रति एक सम्बोधन, एक सम्बोधि

सर सरिता सागर पनघट पर
राजत घट भरने को आतीं
विधु वदने वाले, बोलो तो
क्या तुम भी देख नहीं पातीं
क्षण मेरा जीवन तर्पण का !

नहीं रजत का
किन्तु मृत्तिका का
घट मैं भी हूँ कोई,
लहराता पनघट जीवन का
पनघट वह
भावों और विचारों की गहराई का
मारुत से विलुलित
लहरों वाले स्पन्दन का
ला ला कर जिस पर मुझको
डुबको डुबको कर फिर जिसमें
भर भर कर ले जाता कोई,
भर ही जाते हैं संपुट कुछ
फैली अंजुलियों के,
बुझ ही जाती है प्यास कभी
कुछ अधरों की,
फिर मन्द कभी
कुछ शीतल पड़ ही जाती है
धू धू कर जलती आग
किसी के अन्तर की,
हो जाता है अभिषेक कभी
कुछ रजकण का !

डुबकोने भरने
उलीचने रीतने में मुझको
पुजता ही जाता
कोई पर्व समर्पण का,
किन्तु समर्पण मेरा
कितना आहत है
छलनी है कितना घावों से
तुम क्या समझो !
क्या हुआ, नहीं वात्सल्य मुझे
यदि जननी का हो सका सुलभ,
क्या खेद, नहीं यदि रहे सुलभ
अब जीवन में वे युग्म चरण
शिर धर कर जिन पर प्रात समय,
मैं करता निज दायित्व वहन,
क्या हुआ, कभी यदि असुरों से
मैं हुआ पराजित जूझ जूझ,
क्या खेद, न मेरी वाणी को
यदि हाटों में मिल सका स्थान
क्या खेद, न मेरी कृतियों को
वैतालिक का यदि मिला गान,
वे और
जिन्हें वैतालिक हाटों की चिन्ता,
वे और
पराजित होकर जो
घट फोड़ दिया करते
अपने आदर्शों का,
मैं धर्म क्षेत्र का कृष्ण
और मैं कुरुक्षेत्र का पार्थ
मोह का कैसा मुझ पर पाश
देह का कैसा कोई स्वार्थ,
नहीं क्या मेरी जननी बनी
ब्रह्म की महद्योनि वह आज
कि जिससे अग जग सभी प्रसूत,
नहीं क्या मुझे 'पूज्यवर' मिले
वही जो कल थे देह ससीम
आज होकर विराट में लीन
हो गये जो आराध्य असीम
दिशा का देकर जो संकेत
दिशा में ही हो गये विलीन,
नहीं क्या उनके पथ को पकड़
देव ऋषि पितृ लोक ऋण आज
चुकाता जाता मैं निर्व्याज !
कहो, अब कैसी चिन्ता करूँ
अभावों और दुरावों की
उर के इन रिसते घावों की,
धरती के रिसते घावों पर
कुछ मरहम भी तुम करती हो
लहरों में चन्दन घिसती हो
धरती की तपती छाती पर
फिर उसका लेप लगाती हो,
सागर की छप छप छल छल को
झरनों की कल कल कुल कुल को
किरणों से दुलराने वाली
मतवाली बाले, बोलो तो,
क्यों मुझे छेड़ती हो आकर
छू कर पलकों को पुतली को
क्यों मेरे भरते घावों को
भरपूर हरा कर देती हो,
धरती के घाव रहें भरते
मुझको इसमें सन्तोष बहुत
एकाकीपन में चुपगुप से
सिमते गिरि गह्वर के नाते
मेरे भी घाव रहें रिसते
इसमें भी मुझको चैन बहुत
पर मत छेड़ो इनको आ तुम—

अनुरोध किया करता हूँ मैं
इसलिये कि तुम इस छेड़-छाड़
इस नटखटपन का समय सभी
चन्दन घिसने में सको लगा,
ओ दूध धुली निखरी बाले
हैं घाव बहुत इस धरती पर
तुम उन पर मरहम सको लगा !
अनुरोध अकारण कब मेरा
बन बीहड़ ग्रामों नगरों से
गिरि गह्वर समतल मरुथल से
हँसते स्वर्णाभ दिवाकर से
सस्मित रजताभ सुधाकर से
करती आदान प्रदान सतत
मिलती कुछ करती कोलाहल
करती जाती अविरत अनुभव
आरोह कभी
अवरोह कभी
जो गाड़ी यह मानवता की
द्वन्द्वों की बिछी पटरियों पर
बैठे उसमें
सपने अगणित
सुधियाँ अगणित
सम विषम सभी
कुछ चकित
और कुछ
अचकित भी
कुछ सुप्त
और कुछ
जाग्रत भी,
बैठे उन अगणित सपनों में
सपना इक मेरा भी तो है
बैठी उन अगणित सुधियों में
सुधि बुधि इक मेरी भी तो है,

सपने में मेरे
सूक्ष्म अनागत ऊँघ रहा
दृग मूँद मूँद कर खोल रहा
सुधि में भी मेरी
स्थूल विगत निँदियाया सा
दृग खोल खोल कर मूँद रहा
और जा रही
रिलती गाड़ी
वर्तमान की
अन्धकारमयि घाटी से,
भिड़ता अन्धकार से
उसको दिरता चीरता
बढ़ा जा रहा
दृप्त आलोक
कलमुँहे एंजिन का
उस एंजिन का
करता जो फकछक कभी
और फिर बकझक कभी
लिये जा रहा खींच भगा
गाड़ी को
दूर कहीं
दूर कहीं !
खिँचती भगती ही जाए
यह गाड़ी
हो शिथिल
न जब तक छिन्न भिन्न हों
सौर जगत के सब बन्धन
हो जाय न जब तक दर्प दलन
द्वन्द्वों की बिछी पटरियों का
खुल जायँ न जब तक
सभी ग्रन्थियाँ अंतस की
खिल जाय न जब तक
शत सहस्रदल जीवन का

मिल जाय न जब तक
वह पड़ाव यात्रीदल को
जिसकी चिर खोज
चीख बन गूँज रही
गिरि गिरि
वन वन
घाटी घाटी
जल थल
अंबर
हर डगर डगर
चकराते जाते खेत सभी—
देहात नगर
चकराती जाती पेड़ों की—
पाँतें अगणित
चकराते जाते धरा और –
नीलम अंबर !
और जा रही दूर भगी
जो गाड़ी यह मानवता की
वह लक्ष्य प्राप्ति के निश्चय सी
भगती जाए
रिलती जाए
इतना ही मुझको प्यारा है
बस इतना ही !

आओ

अभिनंद्ये, तुम आओ,
घिसती जाओ लहरों में तुम
मेरी आशाओं का चन्दन
धरती के माथे पर इक दिन
इस चंदन का होगा चर्चन,
मैं न रहूँगा
इसी देह में
लेकिन उस दिन
किसी देह में
स्यात् सुनूँ जब
मेरे गीतों में गूँजेगा
चिर सुन्दर का चिर आराधन,
मैं न रहूँगा
लेकिन उस दिन
फूटेगा मेरे प्रवाल में
चिर सुन्दर का चिर आवाहन.
तब न रहेगा
वाद विवादों का यह व्यूहन
बँध कर जिसमें
युँही जघन्य हुआ जाता है
भेद बुद्धि का यह सब जीवन,
तब न रहेगा
पूँजी सत्ता का यह परिणय
आज पुरोहित शोषण जिसका
रक्त पी रहा मानवता का,
तब न रहेंगे
श्रमहारा वे अधिपति जन के
जो बलि आज चढ़ा देते हैं
संस्कृति के सुत
उस चिन्तन को
वैयक्तिकता का जो सहचर !

आओ,

अयि धवले, तुम आओ
किन्तु मसल कर जिनको मैं
कुछ पीछे आया हूँ बिखरा
उन कलियों का संचय करके
अपने इन कोमल हाथों से
क्यों रह रह तुम तड़पाती हो
फिर मेरी भीगी पलकों पर
फैला कर राजत आँचल को

ऐसा आँचल करने वाले
सुकुमार प्रवालों जैसे ही
कमलों से कोमल हाथों की
इक सोई याद जगा कर तुम
क्यों तब मुझको तरसाती हो
जब दूर वहाँ आ पहुँचा मैं
मधु की मादन उस धरती में
जिसके मतवाले घेरे में
कुछ याद नहीं रह पाता है
जिसमें मधुपों जैसा बेसुध
उन्माद अकेला बसता है
औ' दूर कहीं पर दूर बहुत
छिप कर जिस को
पलकों के भीगे खुले झरोखों से
अवसाद झाँकता रहता है
पुतली की छत पर आतुर सा
वह सदा भटकता फिरता है
जैसे चटख़ोरी जीभ
ओठ को चाट चाट कर
फिर ले लेती है ओट
दूधिया दाँतों की दीवारों की,
मधु की इस मादन
धरती में आ बस जाना
संसार पलायन कहता है
पर इतना है मालूम किसे
वह दूर क्षितिज की डाली पर
जो नीड़ बसाया जाता है
वह भी चिर सुख का साधन है
आदर्श ...रा है वह भी इक

मन का अपना उन्मन पाँखी
उड़ उड़ कर जब तब
इधर तिधर
इस वर्तमान की घाटी में
घाटी पर फैले अंबर में
आ जाता है फिर लौट वहीं
करता बल संचय बैठ वहीं,
बल संचय वह
विश्राम वही
क्या पथ का एक पड़ाव नहीं
फिर पथ का एक पड़ाव वही
क्यों संज्ञा रहे पलायन की,
हैं नहीं यहाँ क्या उत्पथ वे
जो केवल दोषारोपण को
कहते रहते सामाजिकता
जो केवल अपनी वाणी को
कहते हैं वाणी कल्याणी,
उत्पथ वे किस दिन समझेंगे
इस सीधी सी सच्चाई को
लेकिन अमले अयि धवले, तुम
बोलो क्या नहीं समझतीं तुम
मेरी इन बेसुध बातों को,
यदि समझा करती हो बाले,
तब बोलो, कुछ तो बतलाओ
सर सरिता सागर पनघट पर
राजत घट भरने को आतीं
विधु वदने बाले, बतलाओ
क्यों नहीं पुगेगा कभी यहाँ
यह मेरा पर्व समर्पण का !!!

●

बरस रे, उर के जलद कुमार

आह्वान-गीत

हर धरती का गरद गुबार
बरस रे उर के जलद कुमार !

न जाने क्या चल रही कुचाल
समय के कर में थमी कुदाल
रही वह सब के तन को छील
उखड़ते जाते ताल तमाल;
गया छिप दूर कहीं नभ नील
नयन रजकण ने दिये निमील
पछाड़ रही तृण तरु को धूल
सुनहली किरणों का मग कील;
गँवा कर जान रहे झर फूल
तमाशा देख रहे हैं शूल
रही जो अमृत में विष घोल
कपट है वह साकी की भूल;

कलेजा चट्टानों का चीर
चमक चपला सा बारंबार
गरज गिरि गह्वर को ललकार
और कर भूमा का जयकार
अरे रे मेरे जलद कुमार !

बिखर कर उड़ता केश कलाप
कि जैसे सहमा हुआ विलाप—
चला चुपचाप छिपा कर पीर
उठा कर जीवन का सन्ताप;

और वह खंजन आँख अधीर
रही जो आँधी का दल चीर
खोजती वह उड़ ऊँचे दूर
कहीं पर नीलम नभ का तीर;
माँग का बिखर गया सिन्दूर
बदन पर ग़म का तम भरपूर
न जाने पड़ता पग किस ओर
डोलती मानवता मजबूर;

पटक मजबूरी का अभिशाप
घुमड़ घिर घहरा कर हुंकार
कौंध कर फोड़ काँच के द्वार
मरुत पर हो कर आज सवार
बढ़ो रे मेरे जलद कुमार!

चलाया तिकड़म ने वह दाँव
लगा जिस से जलने यह गाँव
जले कुछ घर कुछ पीपल नीम
आग धर रही शेष पर पाँव;
और वे मेरे राम रहीम
सरल वे मेरे कृष्ण करीम
धुआँ छल का उन के घर धूम
बही खाता ले बना मुनीम;
लाड़ले छल तिकड़म को चूम
कुशल दोनों से कर मालूम
पिला ख़ुद पी जीवन का सोम
रही दलबंदी रानी झूम;

घोल कर पी अब रण का चाव
आग पर दाग मूसलाधार
लपक कर झपक अरे दुर्वार
जगा सरिता सागर में ज्वार
प्रलय के मेरे जलद कुमार!!!

●

बुरा कुछ धीरे-धीरे में नहीं

गीत

खुले पड़े हैं द्वार अधर के
नहीं निकलती बात रे
गहरा है आघात रे !

जिसने रोपे खेत भरे जिसने अगणित खलिहान भी
जिसने डाली कभी झोंपड़ी डाले महल मकान भी
पूरब पच्छिम जोड़ दिए जिसने जल थल नभ जोड़कर
उड़ विहगों के संग भरी जिसने उन्मुक्त उड़ान भी,

मानव हूँ वह मैं जिसकी रचना अब भी वीरान है
मेरी बस्ती में अब भी तो खेल रहा शैतान है
कुछ इतिहास पढ़ा मैंने इस धरती का आकाश का
अपना जो इतिहास गढ़ा वह बालू का मैदान है,

कहाँ अभी भूला हूँ मैं अपनी सामन्ती शान को
पूँजी औ' साम्राज्य साम्य सब नोच रहे इन्सान को
हिन्दू मुस्लिम ईसाई सब अब भी दिल से दूर हैं
देखा मैंने किस दिन है अपने भीतर भगवान को,

गाँधी को कब माना मैंने
मैं तो ज़हर पिलाता आया
क्या ईसा सुकरात रे
गहरा है आघात रे !

जीवन का घट जो जंगल के पनघट से भर ले चली
तरल निशानी लहरों को चक्रों की अपनी दे चली
नूतन रचलीं राहें जिसने निज चरणों से आँक कर
तरणी चल जीवन की जो यूँ धीरे धीरे खे चली;

गति है जीवन की वह जलथल में दुलहिन सी जो सजी
आँधी मलयानिल की सुर में जिसकी शहनाई बजी
ऊषा सन्ध्या दिन निशि जो ऋतु ऋतु के घोड़े हाँक कर
पूरे करती चाव भुला कर तेज़ो की भूलें निजी;

उससे बोले कौन 'भला अब इतनी तेज़ी में नहीं
सोच समझ कर बढ़ो बुरा कुछ धीरे धीरे में नहीं
धरती की असलियत न भूलो पास चाँद को झाँक कर
एक चाँद है अपना भी जो अभी ठिकाने में नहीं;

स्मिति की खोंच अधर पर रेखा
गति ने दो दिन पर्व मनाया
आख़िर उल्कापात रे
गहरा है आघात रे!!

धरती से उड़ पड़े मनुज ने खींची नई लकीर है
आँखों के आगे उभरी अब एक नई तसवीर है
डाली डाली फूट पड़ी है कहती बुलबुल नाच कर
द्वार खोल कर पिँजरे के उड़ने को आतुर कीर है;

गोली तोप नहीं कुछ अब तो अणु की हर तदबीर है
कुटिल कँटीली बाट बाँचती अब युग की तकदीर है
अन्तहीन है 'शून्य' भेद लेंगे इसको हम जाँच कर
लेकिन पहले स्वयं सुलझ लें यहाँ प्रलय की पीर है;

उड़ने वाला साथी तो कुछ उड़ कर हुआ विभोर है
धरती पर बैठे का लेकिन आशा पर ही ज़ोर है
फर फर फुर फुर पर फैला कर उड़ो विहग यह सोचकर
धरती पर अंगार चख रहा अब भी हृदय चकोर है;

दिल ने दीप जलाए अगणित
लेकिन सदा बुझाता आया
उनको झंझावात रे
गहरा है आघात रे!!!

●

कदम पर कदम

गीत

जलद बन घिरो
वज्र बन फिरो
कदम पर कदम मौज से धरो
बटोही, मौज से !

बाट का कहीं नहीं है अन्त
लूट की हाटें यहाँ अनन्त
खेद मत करो
न आहें भरो
कि आहें भरना पाप है,
ओस बन रिसो, फूल पर झरो
बटोही, मौज से !

सुबह में साँझ, साँझ में रात
रात में तारों की बारात—
हृदय से वरो
न यूँ ही गिरो
कि यूँ ही गिरना पाप है,
दीप बन जलो अँधेरा हरो
बटोही, मौज से !!

चाँद में कलुष, शूल में फूल
फूल में भोले उर की भूल
आँख मत भरो
न डोलो डरो
कि डर जाना भी पाप है,
शलभ बन जलो, ज्योति में ढरो
बटोही, मौज से !!!

गीत तू गा

गीत

गीत तू गा
मौज से गा
ज़िंदगी धूप छाँह का खेल
खेलता जा !

बीत जो गई बात वह छोड़
लहर को मत फिर पीछे मोड़
कि वह यूँ मुड़ती नहीं कभी,
न अब अकुला
सँभल सुन आ
ज़िंदगी तेज़ नदी की धार
तैरता जा !

थाम कर देख समय का साज़
उदय औ' अस्त यही आवाज़
कि जो थमती ही नहीं कभी,
भटक मत जा
अटक मत आ
ज़िंदगी सुबह साँझ का साज़
छेड़ता जा !

चाल में डाल चाव की लोच
बाट की दूरी पर मत सोच
कि यह तय होती नहीं कभी,
बैठ मत जा
बाट पर आ
ज़िंदगी बाट-बटोही मेल
मेलता जा !

●

....'द
....'र

गीत

सुन रे मेरे माँझी विकल
न रुक पतवार चलाता जा
पार को पास बुलाता जा
अभी से ही मत हिम्मत हार

यहाँ मंज़िल पूनम का चाँद
खोजता जिसे जलधि का ज्वार !

ढल रे मेरे तन के मोम
न बाती पर पछताता जा
जलन की सेज सजाता जा
कभी तो पर्व बनेगी पीर

कुटी में कहाँ रहेगी नींद
चुभेगा उसे ज्योति का तीर !

सुन रे मेरे भोले पथिक
न तू यूँ ही घबड़ाता जा
कदम पर कदम बढ़ाता जा
अभी जाना है तुमको दूर

नयन दूरी से यूँ मत मूँद
समझ उसको इक पेड़ खजूर !

ओ रे मेरे हिलते अधर
विरह की बीन बजाता जा
विकल दिल को बहलाता जा
सिखा स्वर को जीवन के फेर

बना स्वर को निज उर की गेंद
खेल चौगान ज़िंदगी हेर !

जल रे मेरे स्नेही हृदय
न बुझ आलोक बिछाता जा
तिमिर को दूर हटाता जा
नहीं मालूम कि कब हो भोर
स्वप्न की उड़ा पतंग समोद
खींच तू खींच प्राण की डोर!

तू रे मेरे कवि के कण्ठ
जहर भीतर दफ़नाता जा
सुधा के स्रोत बहाता जा
काम यह कौन करेगा और
विषैले जीवन को तू रौंद
खोज ले स्वयं सुधा का ठौर!

●

बह जाता है पानी

षट्पदी

मकड़ी के जाले बुनती प्रतिपल अयि तिकड़म सुन लो,
मैं मक्खी हूँ नहीं कि जिस पर कर लोगी मनमानी!
मत तू रोक मुझे, मत मुझ से बैर बढ़ा तू,
आगे से हट जा रे दलबन्दी के गिरि-पाषाणी!
तू यदि चाहे तो फिर से यह याद दिला सकता मैं—
चीर कलेजा चट्टानों का बह जाता है पानी!!

भस्म ही जब कहे शिव को ...

गीत

गगन से जब भेंट लेकर
कुंद कलियाँ तारकों की
गूँथ जाए साँझ आकर
असित अलकों में निशा की
तिमिर का घूंघट हटा तब
स्वप्न का सित चाँद बन कर
नींद की मेरी धरा पर
बिन कहे तुम उतर आना
और अपनी चाँदनी से
रात में रस घोल जाना
आँख मेरी खोल जाना
नींद का पल जागरण से सँवर जाएगा!
गीत का स्वर मधुर कोई उभर आएगा!

गिरि शिखर पर वितत विलसित
किसी हिम के खण्ड जैसा
जलद कोई एक अचकित
नील नभ में हंस जैसा
पंख फैलाए धवल जब
तब मनीषा के पटल पर
मानसर की बालुका पर
ऊर्मियों को चीत जाना
और मारुत लेखनी से
श्वास का लिख लेख जाना
सृष्टि का मुख देख जाना
चित्र नभ में जलद का बन बिखर जाएगा!
गीत का स्वर मधुर कोई उभर आएगा!!

भस्म हो जब कहे शिव को
आज तू भी भस्म हो जा
वर दिया जो इस असुर को
अब उसी की भेंट हो जा
चिन्तिता गिरिजा धरा जब
अंगुली धर कर अधर पर
हो खड़ी हिमगिरि शिखर पर
तभी तुम हो प्रकट जाना
और ताण्डव की कथा को
स्पन्द में कर सत्य जाना
रच प्रलय का नृत्य जाना
राष्ट्र का कैलाश तब बन वज्र जाएगा!
गीत का स्वर मधुर कोई उभर आएगा!!

जहाँ निशि में तारिकाएँ
पर्व संस्कृति का मनातीं
सकल अपनी सम्पदाएँ
भोर पर हँस कर लुटातीं
आ वहाँ पर कहीं से जब
घुसे कोई यूथ निशिचर
विकट संकट का बवंडर
तब कुलिश बन वहीं आना
और बन कर सिन्धु का शर
संकटों को बींध जाना
आँधियों को चीर जाना
मधुरिमा का इन्द्र धनु तब उधर आएगा!
गीत का स्वर मधुर कोई उभर आएगा!!

सत्य के सुत शत्रु तम के
मंत्र ज्योतिर्गमय जिनका
हैं कहाँ स्वाधीन जन वे
राष्ट्र मेरा निलय जिनका

कहाँ मेरे राष्ट्रपति वे
मैं खड़ा हूँ किस धरा पर
हँस रहा नभ नील ऊपर
अभी किस ने अर्थ जाना
यहाँ पर स्वाधीनता का,
असुर का बन शत्रु जाना
देव का बन मित्र जाना
कब कहो इस सत्य से युग निखर जाएगा!
गीत का स्वर मधुर कोई उभर आएगा!!

●

युग-विधाता

षट्पदी

कब हुई है ज़िंदगी उसकी भला
आफ़तों से जाय टल मजबूर जो,
और उस की भी भला क्या ज़िंदगी
छल कपट से जाय बन भरपूर जो,
ज़िंदगी उसकी हुई है ज़िंदगी
युग-विधाता जाय बन मज़दूर जो!!

मिला,
कदम से कदम मिला

ढोला की लय पर एक लोक धुन

हुआ राष्ट्र अब एक
अधर स्वर एक
कदम से कदम मिला
मिला, कदम से कदम मिला !

शहनाई बन बजने वाली
भेरी रण की आज बजी
बजी कि भेरी आज बजी
रण की भेरी आज बजी

वरण मरण का करने वाली
बलि की दुलहिन आज सजी
सजी कि दुलहिन आज सजी
दुलहिन बलि की आज सजी,
प्रहरी सीमा के बाराती
बने सभी दुलहिन के नाती

मण्डप बने धरा आकाश
सजा कैलाश
शंभु का नयन खुला
खुला, शंभु का नयन खुला !
मिला, कदम से कदम मिला !!

हिम ललाट पर मातृभूमि के
ऊषा ने आ तिलक किया
किया रक्त का तिलक किया
आ ऊषा ने तिलक किया
धो चरणों को मातृभूमि के
संध्या ने भी रक्त दिया
दिया शत्रु का रक्त दिया
सिन्धु सलिल आरक्त किया,
आज बना जन जन का जीवन
जननी जन्मभूमि का पूजन
कर में ज्योति तड़ित की सजी
दुन्दुभी बजी
प्रलय का जलद घुला
घुला, प्रलय का जलद घुला !
मिला, कदम से कदम मिला !!
संकट के क्षण रवि किरणों ने
धरती माँ को स्वर्ण दिया
दिया धरा को स्वर्ण दिया
माँ धरती को स्वर्ण दिया
गंगा यमुना महानदी ने
संस्कृति का स्वर मुखर किया
किया एक स्वर मुखर किया
स्वर संस्कृति का मुखर किया,
कहते रवि शशि उडु अंबर में
कावेरी कृष्णा के स्वर में
संस्कृति का यह पावन छन्द
रहे स्वच्छन्द
सृष्टि का हृदय खिला
रहे सृष्टि का हृदय खिला !
मिला, कदम से कदम मिला !!

धम्म सरन में रहने वाले
धर्म समर में आज जुते
जुते सुभट सुत आज जुते
सुभट समर में आज जुते
द्रोह देश से करने वाले
मुख पर कालिख आज पुते
पुते कि कालिख आज पुते
कालिख मुख पर आज पुते
स्वयं साम्य जनतंत्र पुजा कर
जयचन्दों को मार गिरा कर
रण में तपः पूत सुत लगें
असुर फिर भगें
पलट इतिहास चला
चला, पलट इतिहास चला !
मिला, कदम से कदम मिला !!
शपथ हमें ऋषियों गुरुओं की
मस्तक माँ का नहीं झुके
झुके न मस्तक कभी झुके
माँ का मस्तक नहीं झुके
शपथ पहरुओं बलि पुरखों की
कमल न रोटी असुर छके
छके न कोई असुर छके
रोटी कमल न असुर छके
बाहिर भीतर छाया घन तम
भूमा की लौ स्वर्णाक्षर हम
मानव जिन्हें पढ़ेंगे सभी
कहेंगे कभी
आँच में स्वर्ण ढला
ढला, आँच में स्वर्ण ढला !
मिला, कदम से कदम मिला !!

●

इक चित्र खचित वह धरती

घाटी मसानिये की

काँगड़ा जिला की हमीरपुर नामक तहसील में विपाशा नदी की अनुपूरक कुणाह नदी के ओर छोर फैली मसानिया घाटी : एक संस्मरण, एक संभावना !!

भूमि काँगड़ा जनपद की
देवी वाहोक धरा की
वज्रेशा वह चामुण्डा
वह ज्वालामुखी पताका
श्रद्धा जिस को फहराती !

गिरि मालाओं की धरती
उस एक गीत की भाषा
गिरि शिखरों के कण्ठों में
भुजलता डाल झरनों की
गाती है जिसे विपाशा !

गा रही विपाशा की ही
इक भुजा कुणाह नदी है
जो फैली हुई लता सी
लिपटी उस धरती से जो
घाटी मसानिये की है !

घाटी मसानिये की वह
रूपसी पहाड़ी कोई
हँस कर धानी खेतों में
चीड़ों में लुक छिप कर जो
निर्झर के स्वर में रोई !

कल कल कुणाह का चल जल
ज्यों चिर कल्याणी वाणी
पथ पर चलते घर बैठे
दुहराते रहते जिसको
लहरों जैसे सब प्राणी !

वन पथ से पहुँच शिखर पर
देखी थी घाटी मैंने
पाँवड़ा बिछा क्वालू का
जो करती स्वागत सब का
देखा था उस को मैंने !

7387

सारल्य उसी घाटी का
चिर धन वह मृग छौनों का
वासो जो चरते करते–
रोमन्थन गोरू बछड़ों—
भेड़ों के दृग कोनों का !

चूनर उसकी चंचल थी
लहराती सरसों वाली
थी वेश वसन से हरिता
सुरमई सलोटों के घर
घन जैसे केशों वाली !

वह फूली पीली सरसों
तरुणी वासन्ती बाला
अब कहाँ वहाँ वह बैठी
बहती कुणाह के स्वर से
भरती होगी मधु प्याला !

अब तो नीले अंबर पर
घन घिरते रहते होंगे
अपनी आँखों के मुक्ता
घाटी की उस झोली में
भरते ही रहते होंगे !

दे विदा करुण श्रावण को
मारुत अभिवादन करता
फिर लौट चीड़ के वन में
खिल रहे भाद्र सुरधनु को
होगा अभिवादन करता !

सुरधनु से तीर चला कर
किरनों के सतरंगों के
ज्योतिर्मयि रूपसि कोई
जन मन को बींधा करती—
होगी निज भ्रूभंगों से !

घन सिन्धु देश से आ कर
मधुवर्षण करता होगा
घाटी को कण्ठ लगा कर
संवाहन कर तरुणी का
संभाषण करता होगा !

खगियाँ प्राची की किरणें
कर पार धूममयि गलियाँ
आ उतर शिखर पर गिरि के
तरु तृण से धान लहर से
करतो होंगी गलबहियाँ !

बँध बादल की बाहों में
प्रतिदिन वह कपिशा संध्या
बहती कुणाह के जल में
निज बिंब देख हो शकित
छिपती होगी ज्यों मध्या !

चरवाहा इक खेतों में
अथवा कोई बनजारा
धर कर अधरों पर वंशी
चुपचाप बहाता होगा
स्वर में उर की मधु धारा !

जा दूर कहीं घाटी से
बन दास किसी बाबू का
पढ़ने लिखने से वंचित
लाड़ला किसी माता का
मुण्डू कहलाता होगा !

क्रय शाक भात का करते
दो टके बचाता होगा
बेकार हुए दो कपड़े
पा बाबू से वह मुण्डू
खुश हो कर गाता होगा !

सुधि किसी प्रणयिनी को तब
प्रणयी की आती होगी—
मिल कर फिर साजन गिरि से
जब कोई घटा विरहिणी
आँखें भर लाती होगी !

सेना में गये धनी की
सुधि में डूबी अकुलाती
घाटी वह किसी बनी सी
पथ पर पलकें फैलाए
होगी इक बिरहा गाती !

चीड़ों का रस कर संचित
कोई जन लाता होगा,
पाकर मज़दूरी किंचित्
चीड़ों के रस संचय की
गाता घर आता होगा !

गति अहह विषम जीवन की
स्वर में लहराती होगी
घाटी मसानिये की वह
मानव के उस स्वर को भी
अहरह दुहराती होगी !

स्वर वह कुणाह के जल में
क्या मुखर न होता होगा
घिर घिर कर बरस बरस कर
इक जलद विषम जीवन का
क्या बाढ़ न लाता होगा !

पूँजीपतियों का बंदी
सामाजिकता का जीवन
अतिचार सजग जो अब भी
जनतन्त्र घिरा है जिस में
शोषण वह निर्मम प्लावन !

अधिकारी हो सकते क्या
वे मानव कहलाने के
इच्छुक रहते पूँजी से
मानव को दास बना कर
जो मानव कहलाने के !

क्यों होता रहता वैरी
मानव ही मानवता का
क्या चाँद शुक्र तक जाने-
वाले रथ का निर्माता
है मान न मानवता का !

मैं मानव हूँ कहता हूँ
धरती को अपनी माता
स्वर मेरा उसका स्पन्दन
जो चीड़ों वाले वन में
बहते जल में लहराता !

उठ आता जो सागर से
मैं बादल सजल वही हूँ
बह कर निर्झर नदियों
जा मिलता जो नीरधि में
मैं चल जल विपुल वही हूँ !

घाटी मसानिये की भी
इक चित्र खचित वह धरती
जो आहत होने पर भी
साधन के पनघट पर आ
नित नये नये घट भरती !

कब भारत की ही धरती
कर रही कल्प काया का
सब जग निर्माण निरत है
क्यों भू पर किन्तु अभी भी
नभ है विष की छाया का !

स्वाधीन विश्व का नूतन
जो मंदिर बनता जाता
विज्ञान पुजारी उस में
क्यों नहीं सिद्धि के स्वर में
संस्कृति का शंख बजाता !

क्यों राजनीति ही ऐसी
मनु की वह तामस छाया
जिसने श्रद्धा को लूटा
फिर लूट इड़ा के घर को
जीवन को ही उलझाया !

आलोक बिछा सकता जो
चपला की ज्योति जलाकर
कवि है वह ज्योतिर्मय घन
करता जो तरल धरा को
ज्योतिर्मय स्नेह पिला कर !

घाटी के घर में आ कर
क्या गा मैं गीत सकूँगा
जो इड़ा यहाँ चिर विकला
श्रद्धा जो अभी विरहिणी
उनको क्या भूल सकूँगा ?

●

धड़कते चावों की बोली

गीत

पूनम के घर फिर आया चाँद न यूँही अब तुम तड़पाओ
कि चंदे, अब तो आ जाओ !

कहार बन लाए साँस उसाँस उठा आतुर उर की डोली
भेज दी आज तुम्हारे पास धकड़ते चावों की बोली
न चुप से उसको लौटाओ
कि चंदे, अब तो आ जाओ !

छाँह के साथ मुझे भी घेर खड़ी हो गई जुन्हाई है
बाँह से पकड़ कहीं ले चलने की कर रही ढिठाई है
न सोचो यूँ ही सकुचाओ
कि चंदे, अब तो आ जाओ !

तुहिन का वसन पहिनकर शिशिर मुझे चुपचाप छेड़ता है
काँपते हाथ सिहरती देह परस कर मुझे देखता है
उठो, मरघट से उठ आओ
कि चंदे, अब तो आ जाओ !!!

●

अगर तू रहे अनुकूल

चाँद सूरज की किरनों की तरह मेरे चाव
रूप के पनघट में रोज़ लहरा सकते हैं,
फेन के फूलों की माला लिए मेरे हाथ
उफनाते सित यौवन से हाथ मिला सकते हैं,

पनघट पर यौवन घट भरती हुई रूप की पुजारिन
अयि गीत गाती पनिहारिन
तू सुन,

अगर तू रहे अनुकूल तब अंजुलि बने अधर
दिल में लगी आग को रोज़ बुझा सकते हैं!

रूप के पनघट पर आकर मेरा हृदय हरिण
सुबह साँझ अनन्त से नयन मिला सकता है,
पास अपने रात दिन के मिलन की लाली में—
लहराती किसी लहर को रोज़ बुला सकता है,

मेरे जीवन कानन में कस्तूरी मृग की चेतने
अयि अन्तर्हित आराधने
तू सुन,

अगर तू रहे अनुकूल तब मेरा हृदय हरिण
रूप को नयनों की नीरा पिला सकता है !!

उफ़, ओफ़ ! काल के ज़ालिम अहेरी के शिकार
उसके हाथ से तुझे कौन छुड़ा सकता है,
कौन है जिस पर कभी न चली हो उसकी चोट
कौन है वह जो उससे भेजा भिड़ा सकता है,

मेरे हर ग़म को ग़लत करती संगीत की बालिके
रूप के वाद्य की मल्लिके
तू सुन,

अगर तू रहे अनुकूल तो यह हरिण काल के—
ज़ालिम अहेरी का भी भय भुला सकता है !!!

●

फिर रात चाँदनी आई है

गीत

दिल में सौ ग़म
जीवन में श्रम
थक कर साँसों को सरगम को
सुधियों का गायक छेड़ रहा
भर आह रागिनी लाई है
फिर रात चाँदनी आई है !

चंचल यौवन
उच्छृङ्खल मन
मधु भरी रूप की प्याली में
अधरों की खोज सहेज रहा
घर चाह पाहुनी आई है
फिर रात चाँदनी आई है !!

जाड़ा बेदिल
आकुल बादल
अप्सरिका राजत तरुणी को
भर बाहुपाश में लील रहा
ली यौवन ने अँगड़ाई है
फिर रात चाँदनी आई है !!!

●

रात चाँदनी और गुलमुहर

कॉलिज में

जाड़े की रात
आकाश में बादल
बादलों की ओट में चाँद
और धरती पर
कहीं कहीं कुछ कुछ
छिटकती चाँदनी
जैसे कोई दूध धुली सुंदरी—
अभिसारिका कामिनी
अँधेरे में चलती दबे पाँव
सजग सी सशंक सी
चुप चुप
रुक रुक
इधर तिधर
झाँक झाँक
और मुझे आ रही याद
देरी की उगी
किन्तु बरखा धुली
दूबों जैसी वह बात
जो लगता है कि अभी बीती हो नहीं,
यह वही बात
जिसका सम्बन्ध तुमसे है
मेरे कॉलिज के जीवन, तुमसे !

× × ×

कॉलिज में अब भी जाता हूँ मैं
एक ही क्या
जाता दो तीन कक्षाओं में प्रतिदिन
किन्तु बैठता था तब
एक ही कक्षा में मैं
और हर बरस बाद
बदल जाती थी वह कक्षा
औ' हर बरस बाद
बदलती कक्षाएँ अब भी
सुधियाँ इनकी भी
लहरा कर मानस में
हो जातीं लीन
सो जातीं वे
हो जातीं निद्रा में तल्लीन
कक्षाएँ फिर नई
चेहरे फिर नए
सपनों के कौतूहल जैसे
जग जाते
किन्तु बहुत अन्तर है
इन कक्षाओं का उनसे
था जिन में कभी मैं बैठता
क्योंकि तब पढ़ता था मैं—
कॉलिज में
क्योंकि अब पढ़ाता हूँ मैं—
कॉलिज में !!

× × ×

है वैसे यह बात
समझ की अपनी
पढ़ता तो अब भी हूँ मैं
ब्रह्माण्ड यह कॉलिज मेरा
बेसुध यह बादल

चंचल वह चाँद
नीलम यह अंबर
वह तारों का जाल
खेत ये हरे
वे भरे खलिहान
ये झरने चंचल
वह सागर गंभीर
सब मेरे अध्यापक
हैं मेरे प्राफ़ेसर
इस कॉलिज का प्रिंसीपल
मेरा आचार्य
सुनता हूँ है वह अज्ञात
गौतम-गाँधी प्लतो-अरिस्तो'
सुनता सबसे मैं आया यही
कहा था अभी
कातिकी पूनम पर
नानक ने मुझ से
'है वह अज्ञात'
किन्तु विश्वास मुझे
अपने गुरुजन पर
जिस नियम में बँधे वे
उसी में बँधकर गाऊँगा गान
लय में मेरी यदि हुआ कुछ आग्रह
तान में मेरी यदि कुछ अनुरोध
आचार्य वह मेरा तब आएगा ही
इस गीत को आ कर वह सुनेगा ही
अधीर उर मेरा तब
हो कर प्रणत
अर्पित हो जाएगा ही,
तब पुलकित
गुरुजन का आशीष वरद
बरस बरस जाएगा ही
जाएगा फैल धरा पर
मधुमास का हास
आएगी तब भी मुझे याद
बीती वह बात
जो
लगता है कि अभी बीती ही नहीं
जिसका सम्बन्ध तुम से है
कॉलिज में बीते मेरे जीवन तुमसे!

× × ×

कॉलिज में मेरा वह बरस तीसरा
बरस तीसरे में ऐसा ही जाड़ा
जाड़े की ऐसी ही रात
रात ज्यों कोई इक ग्रामवधू
चाँद के चरखे पर बैठी तब
धुनी हुई रुई जैसी धुंध से
रही थी कात
किरनों का सूत,
गोद में लेटे अबोध शिशु सा चकोर
देख रहा था चुप चकित उस ओर
जल रहे थे जिधर तारों के दीप,
काँपते हाथों में लिए
बाँसों की बीन
किसी विवश बटोही सा दीन
ठिठुरता पवन
था तल्लीन
किसी सोच में डूबा
किसी कष्ट से ऊबा
औ' रात यही जाड़े की
अहरह उठती थी चौंक
जब भूँकते कुत्तों का स्वर
करता था भंग फिर फिर
उसके चकोर शिशु का ध्यान.
नहीं आ रही थी उसे नींद

नहीं आ सकी थी मुझे नींद
जाग रहा था मैं
खड़ा था वहीं
जहाँ वृत्त पर अब भी हर साँझ
लगाते दौड़ कुछ छात्र
करते कोलाहल,
चंचल उच्छृङ्खल
उद्धत यौवन
शाद्वल पर
चूनइ रेखाओं पर
हो उठता उच्छल
उस मैदान पर
जो है उस कॉलिज का
खेल का इक मैदान
कि जिसके एक किनारे
दर्शकदल से गुलमुहर खड़े
मनाते रहते मोद,
शीर्ष एक
उन गुलमुहरों की पाँत का
संधिस्थल पर—
दो मैदानों के वह मध्यस्थ बना,
आओ कलिज की ओर से
वह पेड़ आदि में पाँत के
जाओ छात्रालय से
वह पेड़ अन्त में पाँत के
वह आदि अन्त का मिलन
मनहर गुलमुहर वह
छाँह में उसकी
मैं खड़ा वहीं था
बैठी थी दिन के समय जहाँ
वह बालिका एक वहाँ
कुछ ही दिन का परिचय जिससे

हो गया था कुछ ऐसे घना
जैसे मूर्छा में टली हुई संज्ञा
लौट फिर आई हो
जैसे दूर पहाड़ी बंकिम बन पथ से—
दूर हुई एक नदी
पास फिर आई हो
जैसे दूर शिखर पर पर्वत के
छेड़ी धुन वंशी पर कोई चरवाहे ने
और चिर परिचित स्वर लहरी कोई
श्रुतिपट पर फिर लहराई हो,
अरुणाई में साँझ उषा की मज्जित
रवि शशि के किरण निकर से रंजित
फेन की तरह अहरह उफनाता
इस बाला का रूप
प्रवालों में प्रस्फुट
स्मिति के शिशु कौतूहल जैसा
मैंने देखा था अगणित बार,
चीड़ के वनों में भरते संगीत
मरुत झकोरों में
श्वास इस बाला का
देता था मुझको अपना आभास,
बौराए गदराए आमों के कानन में
अधीर कर देने वाली मतवाली
वह पंचम की सुर इस बाला की
सुनता आया था मैं शतवार,
झरनों ने मुझे कहा था सर्वदा
कि सर्वथा चंचल है वह,
नदियों को ज्ञात था इतना
कि गति उसकी नहीं निरर्थक
और सागर से भी छिपा न था
कि उसके लिए भी गागर है वह
बालिका वह चाँद जैसी
कलहंसिनी वह कला कलिता

वह सुन्दरी सुकुमारी
तरला वह शारदहासिनी
धवला वह सरला कामिनी
खगी वह कल्लोलिनी ललिता
बैठी थी छाँव में गुलमुहर की
दिन के समय वहाँ
खड़ा था अब मैं जहाँ
किन्तु अब तो रात थी
वह बालिका कहाँ थी वहाँ
लेकर गोद में मुझे बैठी हुई
धरती माँ
किसी और उधेड़बुन में खोई हुई थी
धुन्ध के जड़ जटिल जाल की
जकड़ में वह
ओस के आँसुओं में रोई हुई थी,
अपरिचित नहीं था मैं
माँ के उस मौन रुदन से
किन्तु सच है यह भी
कि बहुत अधूरा था मेरा वह बोध
तब सुन नहीं सकता था
ठीक से युग की धड़कन को मैं
किन्तु तब भी था तड़प का वह तूफ़ान
वह वरदान
जो पहला पाहन है उस नींव का
रचता स्वयं जिस पर आत्म विस्तार
मन्दिर सुन्दर विश्वासों का
युग जीवन का अभिनव आधार !
ममता वह मेरी धरती माँ के लिए
न जाने वशीकरण कैसा बन गई
बाला यूँ ही वह रीझ गई
मेरे कष्टों का बोध नहीं था उसको
अभी अभी कुछ दिन पहले
बच कर इक मकड़ी के जाल से
आया था दूर निकल मैं
क्योंकि मक्षिका कब था कब हूँ मैं
मृग शावक सा मेरा मन है
संगीत की सुमधुर धुन थी वह बाला
उसकी गति में थी लय
रस उसके स्वर में
उसका जीवन था गीत,
वह गीत जो
पहले ही रहा था रिझा मुझे
अब और भी लगा लुभाने मुझे
प्रवालों में हुआ प्रकट मेरा जीवन
आकर्षण उस बाला का
भर लाया भरपूर समर्पण
मंगलमय राग से अभिषेक
जीवन का
स्पन्दन से अपने तर्पण
भूमा का
क्षार जलधि का आचमन
ऊसर की तृषा-मृषा, मधु वर्षण
चिर सुन्दर का !
आई थी वहाँ वह बाला
दिन की वेला
उस मनहर गुलमुहर के पास
मैं खड़ा जहाँ अब था,
उस रक्तचूड़ के नीचे
उस आदि अन्त के
सन्धिस्थल पर
उसने देखा था मुझे
मैंने देखा था उसे
देखने के भी होते हैं अर्थ बहुत
एक अपना भी अर्थ बना था
उस दिन

अर्थ था आकर्षण
आकर्षण इक मन्दिर
मन्दिर का देवता प्रणय
प्रणय के प्रति
प्रत्याशी स्पन्दन का समर्पण
समर्पण में बतकही आँखों की
आँखों में निश्चय
अटल अटूट
जीवन के अणु अणु को
सिंचित करने का,
तब मेरा जीवन बन गया
बेसुध बादल
जिसमें लगता था जैसे वह बाला
गई समा चपला जैसी
किन्तु छिपे मधुमती भूमिका में
मेरे मानस के आन्दोलन
मेरे कष्टों के अम्बार
देख कर डर गई वह
वह बालिका घबड़ा गई
औ' दिखला गई पीठ
किन्तु अटल रहा मैं
अब भी अविचल मैं
मेरा निश्चय निश्चल
अपने समर्पण से सींचता
रहूँगा मैं
जीवन के सभी खेत
और आती रहेगी मुझे याद
उस मनहर गुलमुहर
उस रक्तचूड़ की
जहाँ आदि भी है अन्त भी

× × ×

डूब चुके मेरे समर्पण में
दोनों आदि-अन्त
हो चुका मेरा समर्पण अनन्त
हो रहा मैं भी अनन्त में लीन
बँधाते हुए मेरी विफलताओं—
पर धीरज
करते हुए मेरे अपराधों को क्षमा
बाँधते हुए अपने नियमों में मुझे
मेरे गुरुजन सचेत हैं
सजग सावधान
किन्तु इन गुरुजनों के—
प्रति समर्पण
मुझे बराबर दे जाता याद
चाँद सी दूधिया
कला-कलिता
कलहंसिनी उस सुकुमारी
शारद हासिनी बाला की
जिस से मिला मैं
बेसुध बादल की तरह
उन्मादिनी चाँदनी जैसी
मुझ से मिली जो
और फिर बिछुड़ गए हम ऐसे
जैसे अटल भावी ने हटाया
हो घूँघट अपना
जैसे खुल गई हो आँख और टूट—
गया हो सपना,
वह बालिका चली गई
चढ़ गई चिता पर
याद जो उसकी रह गई शेष
मानस पर मेरे वह छिटक गई।

× × ×

अब खेत में खड़ा हूँ मैं
मैं—अस्तित्व का एक आयाम
बोध का एक क्षण,
पार्थिव जीवन का क्षेत्र—खेत,
खेत में खड़ा मैं
देख रहा जाड़े की रात—
जड़ता का परिवेश,
मानस की तरह सूक्ष्म आकाश,
अनुभवों के बादल
बादलों की ओट में चाँद,
चाँद कुछ भी नहीं
केवल कल्पित सुख !!!

●

नीड़ तिनकों का भला

षट्पदी

धूप दुपहर की वरद है वह कि जो
छाँह में विश्वास की दी हो बिता संयोग ने,
वह हलाहल भी सुधा की घूँट है
पी लिया हो जो परस्पर प्यार के संभोग ने,
महल से वह नीड़ तिनकों का भला
जो बसाया हो निरन्तर यत्न से सहयोग ने !

●

आ
कि स्नेहमय दीपक
अपने जीवन का जला लें हम

आज भी बुलाता हूँ मैं तुझे उन अँधेरी गलियों में
स्वाती के बिना जीवन जहाँ विफल सीप की रचना है
जहाँ नहीं जलाया है कभी भी किसी ने कोई दीप
जहाँ अभी भी रोशनी की राहत कोरी कल्पना है !

आज भी मैं बुलाता हूँ तुझे उन झोंपड़ों के भीतर
जहाँ चिमनियों का फैला हुआ धुआँ कभी टलता नहीं
जहाँ लड़खड़ाती हुई साँस रुक रुक कर चलती तब तक
जब तक अजगर की तरह यह धुआँ उसको निगलता नहीं !

मानता हूँ कि झरते झरनों से मेरा प्यार कम नहीं
कारण्डव की तरह कनीनिक लहरों को छू आते
कुलबुल कुलबुल करते पानी के बुलबुल सरीखे बोल
मेरे कर्णकुहरों को भेद कर उर को छू जाते !

पहाड़ों पर चीड़ के वनों में बैठकर गा रही हवा
अपनी झीनी झंकार से मुझे सहज लुभा लेती है
बेसुध हरिण की तरह मैं खिँच जाता उस स्वर की तरफ़
जिसकी हर छुअन मेरे दुख को कुछ पल भुला देती है !

मगर अब मैं बुलाता हूँ तुझे उन अँधेरी जगहों पर
जहाँ दिन के समय सूरज तक भी दिखाई नहीं देता
जहाँ अँधेरे में टटोलते हाथ मिल जाते अचानक
इन हाथों के अतिरिक्त जहाँ किसी को कुछ नहीं मिलता !

आ कि स्नेहमय दीपक अपने जीवन का जला लें हम
क्योंकि अभी तो हर उर को ज्योतिर्मय करना है हमने
जहाँ दिवस भी है पावस में अमावस की आधी रात
आ कि जगा कर वहीं चपला की चमक चलना है हमने !

●

साँझ सकारे
रात बराते
अयि रूपसि कल्पने
ले जातीं मुझ को
तुम दूर विजन में
अथवा हाटबाट के कोलाहल में
छिप जातीं छोड़ मुझे जब
तब मौन विजन में
बनपाँखी जैसा
शाखी शाखी से
अथवा चल जल से
करता कल्लोलें
मस्ती में गाता
मैं मौज मनाता !
फिर लौट विजन से
घुस हाट बाट के
कोलाहल में
हलचल करता
दम्भ के दुर्दम शुंभों
शोषण के स्तम्भ निशुंभों
असुरों का मर्दन करता
शक्ति की गाज गिराता
मैं भैरव गाता !
दृष्टि घुमाता
फिर इधर तिधर
तुम्हें बुलाता
मैं तुम्हें प्रिये !

आओ
अयि आ भी जाओ

अस्तित्व के मन्दिर में
भूति पुजारी
मैं पूजन का स्वर
अनाहत चिर
आहत मैं मुखर अचिर
किन्तु तुम
अयि रूपसि तुम
आओ अब आ भी जाओ
कल्पना न रहो
मेरे गायक को वरदा वीणा
अब बन भी जाओ
अयि आओ
संस्पर्श
मेरे गायक की अंगुलियों का
तुम पाओ
फिर गाओ
अयि आओ
साँसों के तारों पर,
मेरे गायक के स्पन्दन को
साँसों में अपनी तुम—
बुनती जाओ !

●

यह नियम तो है चिरन्तन ही

देख लूँ किस ओर अब ले जायगी बहती हुई धारा मुझे
इसलिये ही सौंप दी है आज यह अपनी तरी मैंने इसे
मैं चुका हूँ देख लड़कर हाथ में पतवार लेकर भी यहाँ
जो मिटाती है रही तदबीर हर मेरी ज़रा देखूँ उसे!

गीत यह जो गा रहा मैं सत्य इसका भी कहाँ मुझको पता
फिर कहूँ कैसे कि मैं वह काल हूँ जो देश में फिर फिर ढला
हँस रहा तूफ़ान तट की बालुका सा मैं अचंभे में गड़ा
लहर में तूफ़ान या तूफ़ान में ही लहर का भैरव खिला!

नियति से यह पूछ लूँ कैसे कि यह सब खेल तुमने क्या रचा
रच खिलौना एक माटी का हँसा कर फिर रुला उसको दिया
आह, मैं भी तो खिलौना हूँ मुझे अधिकार इतना भी नहीं
पूछ लूँ उससे कि इतना पूछने भी क्यों नहीं मुझको दिया!

मैं अकेला नाव में बैठा हुआ तम ने मुझे घेरा हुआ
स्नेहमय उर में जलन की ज्योति पाकर जल रहा जैसे दिया
बिजुरियाँ नाचें हँसें अब प्रलय के बादल बजा लें तालियाँ
मौत, तू भी आ, कहूँ मैं चैन से इतना तुझे भी पा लिया!

हँस रहीं लहरें कि नीचे विकल जल जाकर अतल में मिल रहा
हँस रहे तारे कि पीछे नैश नभ घन तम उगलने में लगा
आँधियों के साथ ही हर ओर से बहकी हवाएँ उठ रहीं
घिर गया मैं, काँपती लौ औ' किनारा छिप गया देकर दगा!

जल रहा हूँ मैं उसी की खोज में जिसने जलाया है मुझे
यह नियम तो है चिरन्तन हो कि हो जब रात तब दीपक जले
भोर होते ही नहीं आकर बढ़ा देगा स्वयं क्या वह मुझे
भोर तक के ही लिये मुझको जला जो छिप गया छाया तले!

•

यांयावर हे शत डहर निकर के

प्रकाश पूजन

अविभाज्य ग्रंग जीवन के मेरे
उर के मेरे ग्रो रे चिर प्रकाश
अभिनंद्य वंद्य हे चिर ग्रनिंद्य रे
मुखर किन्तु चिर मौन मधुर छविपाश !

ग्रय उषा ऊर्मिला के वर सहचर
प्राची की आभा के हे प्रसार
विगाहन पश्चिम के पावन परिसर
दक्षिण उत्तर के हे विस्रब्ध विहार !

ऊषा से उदित रश्मि रेखा के
ओ सुविरूढ़ मूल विलसित विकास
वरद विधायक साधक भावी के
प्रकट पाण्डित्य पद्मश्री के हुलास !

ऋषि उषः सूक्त की ऋचा के प्रवर
अतल पराभौतिकी के विस्तार
गति-शक्ति व्यक्ति-ग्रभिव्यक्ति की प्रखर
नचिकेता परावृत्ति के हे विस्फार !

यायावर हे शत डहर निकर के
ग्रगणित रविगण के स्फुट स्वर्णहास
चंचल पुनीत उद्धत विनीत हे
जय स्फीति संकोच उल्लास विलास !

प्रस्तुत है
अस्थि दधीचि की

सहकारी मेरे कुछ खिलते हैं ऐसे
हिन्दी हित मेरी चिन्ता सक्रियता पर
बढ़ जाने पर किसी कारवाँ के जैसे
उठती निष्क्रियता रूप बवण्डर का घर!

पढ़ा जहाँ मैं उस कॉलिज के तोरण पर
अब 'सत्यमेव जयते' कब अङ्कित ज्योतित
सन पचपन से पैसठ तक रहा दशक भर
वह रहा नहीं किन्तु वहाँ आज प्रतिष्ठित!

'सतलुज' के पन्नों पर हिन्दी पंजाबी
सन पचपन से पहले की तरह तिरस्कृत
क्योंकि कॉलिज अब राष्ट्रभक्त क्रांति राही
अंग्रेज़ी सामन्तों से अधिक अधिकृत!

हिन्दी पंजाबी पर छाए अंग्रेज़ी—
के संकट की अलख जगा स्वर कर ज्योतित
घुस घुस कर घर घर उर-उर को छू-छू कर
सन पचपन में जबकि हुआ मैं निर्वाचित!

तब छात्र संघ सोलह सौ छात्रों का वह
दिया बना माध्यम सत्यमेव जयते का
तब लीक नई डाली थी हम सब ने मिल
जब सतलुज क्या, कॉलिज सब बदल दिया था!

हिन्दी पंजाबी को स्थान यथोचित दे
इतिहास जिन्होंने कर दिया नवल अंकित
दीक्षान्त हुआ हिन्दी में जिन के श्रम से
प्रिंसीपल गुरुजन कब होंगे वे विस्मृत।

आ कर किन्तु अधिकारी एक ने केवल
हुमक हुंकार फूँक फुंकार सामन्ती
छोड़ हिलाते दुम कुत्तों का अपना दल
हिन्दी पंजाबी की काया नुचवा दी !

शपथ चुकाता सब को जो आत्म होम की
विधि निषेध जो राष्ट्र पुरुष का अवतारी
वह संविधान क्या नाक मोम की
चाहे जिधर मोड़ ले उस को अधिकारी !

संविधान के द्रोही हों जो अधिकारी
वेतन वृद्धि पदोन्नति मिलती यदि उन को
तब क्यों न राष्ट्र हो उन सब का आभारी
करने पर तुले कृती कृतार्थ जो उस को !

पथ पर अङ्कित पग मेरे सहचर दल के
पथ की रज में दफ़नाए जा रहे सतत
अक्षर उन सबके शोणित श्रम सीकर के
काल भाल से अहह बुझाए जा रहे सतत !

देख रही जब तब इक हिजड़ों की सेना
सन पैसठ में पुतला हिन्दी का पिटता
देकर ताली नाच रहे टेना बेना
जबकि कोष संचित सन पचपन का लुटता !

सहकारी मेरे समझाते हैं मुझ को
क्या करना कहना क्या यहाँ किसी को अब
सरकारी नौकर हैं हम तुम सब ही तो
क्या अन्तर हिन्दी यदि पिटती है जब तब !

हसते कुछ कहते 'है समझ कहाँ की यह
रहना पानी में बैर मगर से रखना
बिताना जीवन गंगू तेली की तरह
समता किन्तु महाराज भोज से करना !

स्वीकार नहीं मुझको जनतंत्र विषम वह
सम्बन्ध रोपता हो जो मीन मगर का
स्वीकार किसे होता बरसाती नद वह
जो भक्षक तटवर्ती तरु गाँव नगर का!

कहते कुछ और वरो डॉक्टरेट जल्दी
हिन्दी के पचड़े में समय गँवाओ मत
है समय अभी रच लो हाथों में हल्दी
हाथों के लड्डू बेकार लुटाओ मत!

मत बात करो आगे बढ़ भिड़ पड़ने की
साधारण इन बातों पर करो न बक झक'
कहते सब सुनता पर कौन यहाँ सच की
उपदेशक सब ज्ञानी अनुभवी नपुंसक!

पौध रुपी को भी जो नहीं बचा पाते
जब घिर आते टिड्डी दल कुत्साओं के
साधारण कह फेर लिया करते आँखें
कोट वही केवल दंभों कुण्ठाओं के!

कर पाता पारण वही असाधारण का
संधारण साधारण का कर सकता जो
बन वृक्ष विशाल सघन बीज वही पाता
विकसित फिर परिणत शत शत में होता जो!

देख रहा हूँ मैं देख रहा अहरह भिड़
हविस भेड़िये की जो कर सकती ऊधम
लेकिन केवल तब जब भेड़ों का रेवड़
कर रहा सामने हो मिन मिन मिन नम नम!

पूंजीपतियों के क्रीत मीत अधिकारी
दुःशासन दुर्योधन के ध्वजधर रक्षक
पी कर जनता का लहू पल रहे पाजी
संरक्षक ये खटमल ये तक्षक भक्षक!

देवालय व्यापारी-अधिकारी दल के
राष्ट्र-संस्कृति-जन हित क्लब-होटल शत निर्मित
देव वही ग्राम-नगर-जनसाधारण के
सम्बन्ध सकल स्वस्थ वहीं होते स्थापित !

वाहक संस्कृति के वर्गभेद के घातक
दुख दैन्य जहाँ जन साधारण का वर्जित
देवालय ये भारत के उन्नति द्योतक
भाषा जन साधारण की जहाँ तिरस्कृत !

देखो अब कविवर यदि देख सको इस पल
मधुशाला स्वाधीन जनोचित जो निर्मित
झगड़े मन्दिर मस्जिद के फूल रहे फल
क्लब होटल को हो कर हर तरह समर्पित !

रख हाथ पेट पर धर अंगुलि दाँतों पर
जन साधारण तकता बिलासिता जिनकी
वे कर रहे युगान्तर जम रही निरन्तर
कॉनवेण्ट पबलिक स्कूलों में जड़ उन की !

जन साधारण पहले की तरह अपरिचित-
उस सबसे जो हो रहा नाम पर उस के
क्लब होटल व्यापारी अधिकारी शत शत
सामन्त स्वदेशी सब चिन्तित हित उस के !

जुट अपने क्लब होटल नव देवालय में
पी कर जनसाधारण हित जाम अहर्निश
सामन्त स्वदेशी अंग्रेज़ी परदे में
रख रहे छिपा पिटते दीवाले का यश !

भर रहे विदेशी बेंकों में ये जो धन
है वह भी धन अर्जन जन साधारण का
क्लब होटल का होता है जिससे तर्पण
वह लहू पसीना है जन साधारण का !

लड़वाते हिन्दी को उस की बहनों से
इसलिए कि अंग्रेज़ी रह जाय सुरक्षित
प्रेरित राष्ट्रभक्ति के नव प्रतिमानों से
ताकि द्रोह अपना हो जाय न उन्मुद्रित !

छल है क्लब होटल में परिमित बौद्धिकता
छल है वह भारत के जन साधारण से
साबरमती बता तेरा है सन्त कहाँ
वह बोलेगा क्या न कभी चम्पारन से !

हिन्दी इसलिए आज अविलम्ब अभीप्सित
निगल रहा क्योंकि न्याय सामन्ती इसको
क्योंकि कोटि-कोटि जन से न्याय यह कुत्सित
स्वीकार नहीं मेरे उर के गाँधी को !

हे अमरनाथ हिम अकुल त्याग तू तन्द्रा
उठ जाग सुप्त मेरे प्रयाग अब जग तू
हे पक्षिराज पोंगल पुनीत रच मुद्रा
प्रलयंकर शङ्कर भव भैरव की रच तू !

हे शिला खण्ड कन्या कुमारि के कीर्तन
क्यों खण्ड-खण्ड हो फिर अखण्ड भारत भू
हे बोधि वृक्ष हे महासत्त्व के चिरधन
क्यों स्रस्त कर्म हो ध्वस्त धर्म परिभू तू !

सङ्कट में साथ दिया जिस का अर्जुन ने
जलधि जलद स्पन्द स्वर अणु में जो चिर स्थित
तक्षक का वंश जला क्षार किया जिसने
सावधान, है मुझ में वह अग्नि सुरक्षित !

होटल क्लब दम्भ भरे जीवन को छोड़ो
सामन्ती वैभव को आग लगा दो अब
यदि वज्र नहीं पास तुम्हारे तब उसको
लो, अस्थि में मेरी तुम पालो अब !

●

प्रश्न एक

कॉलिज में
अंग्रेज़ी भेड़िये द्वारा माँद बनाए गए
'सतलुज' नामक पत्रिका के दफ़्तर द्वार पर
खड़ा हो कर
फिर तूफ़ानी वेग से पुकार कर
पूछता है दशक पीछे के
भूतपूर्व सम्पादक का प्रेत एक
अपने ही क्रमजात
सम्पादक से प्रश्न एक !

अरे, ओ रे बन्धु मेरे
मेरे प्रिय वंश जात
मुख पृष्ठ से 'सतलुज' के
कहाँ गई हिन्दी कहो
कहाँ पंजाबी गई
और कहाँ 'सत्यमेव जयते'
वह तो अब रहा नहीं
तोरण पर भी,
फलक तो अब भी वहीं
किन्तु शब्द अब   और
                लिपि और
मुख पृष्ठ भी अब तो नया
किन्तु उस का भी
रूप अब और
रंग और ;

कहो, मेरे बन्धु कहो
उनीस सौ चौवन में
जी तोड़ मेहनत—
सहयोग सुबुद्धि से
सोलह सौ छात्रों ने
लड़ भिड़ कर
तर्क कर
राय साहिब रजवाड़ों की दुर्बुद्धि से—
युद्ध कर
अपनी भाषाओं को
स्थान जो दिया था
वही अब दशक एक बीते
उनीस सौ चौसठ में
छिन गया कैसे,
तुम्हारा ही धन
तुम्हारे ही हाथों
लुट गया कैसे ?
क्या सच ही बन गए भेड़ तुम
ले गया जिस के लाड़ले को
भेड़िया उठा कर
बात की बात में
और कर गया चटम
अपने संरक्षक सहयोगी
गीदड़ बिल्लों सहित सब
बात की बात में !
क्या सच ही देखते रहे तुम
अपने संरक्षक सहयोगी
नपुंसक नाती मीत जन सहित सब
अपहरण
संहार
संभक्षण ?

अरे ओ रे बन्धु मेरे
क्या सच ही भूल गए तुम
कि तुम्हीं 'भारत' हो
भरत की सन्तान
उसी भरत को
गिनता था
शैशव में
सिंह के जो दाँत,
क्या सच ही भूल गए तुम
कि तुम्हीं राष्ट्र के आदर्श हो
हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग अचल
कि तुम्हीं राष्ट्र की अनुभूति
जलधि फेनोच्छ्वसित अतल
कि तुम्हीं ज्ञान इच्छा कर्म
त्रिमूर्ति ब्रह्मा विष्णु शिव
कि तुम्हीं कुण्ठा मुक्त सहज स्वस्थ सत्त्व,
वीणा-पाणि पुस्तक धारिणी के सुत
क्या सच ही भूल गये तुम
कि तमसो मा ज्योतिर्गमय के दूत तुम
कि हवन मंत्र औ' गुरुवाणी से तपः पूत तुम
कि नमाज़ में उपवीत
और गिरजे की प्रार्थना से पुनीत तुम
कि सृष्टि की मूलभूत एकता के विधायक
ओ रे मेरे बन्धु
वर्ग हीन समाज के सम्पादक तुम !
क्या सच ही भूल गए तुम
कि तुम्हीं ने करना था संरक्षण
प्रतीक भूत मुझ भूतपूर्व
सम्पादक के रिक्थ का,
रिक्थ मेरे राष्ट्र की वाणी
वाणी मेरी आत्मा का कल्प
कल्प मेरी संस्कृति कल्याणी

कल्याणी वैतरणी जन गण मन की
जन गण मन कृषक श्रमिक का
कृषक श्रमिक हो आज उपेक्षित पूर्ववत
आज उपेक्षित पूर्ववत वह
'आभिजात्य' 'रायसाहिब' 'रजवाड़ों' से
संस्कृति के वी. आई. पी. ठेकेदारों से,
आह ! भारतीय कहलाने में भी हेच समझने वाली
पोच 'क्लब जेण्ट्री' से आज तिरस्कृत
जन गण मन की भाषा
इसलिए राष्ट्र यह मेरा तिमिरावृत
जन गण मन विभ्रम से वलयित !
कृषक श्रमिक के हितचिन्तक उन्नायक
जन गण मन के अनुगायक अधिनायक
कैसे ले जा सकते दुखरन हरिया
रहमू जरनैल की हाट कुटी में आलोक
जब कि कृषक श्रमिक की भाषा
स्वर उनका
अब भी हो रहा उपेक्षित
आह तिरस्कृत !

नेतृत्त्व के केन्द्र में
अग्नि है आज प्रवंचित
भारत में आज
नौकरशाही के स्वार्थ परायण निघृ्ण इन्द्र से
दुरभिसन्धि फल रही
शोषक भक्षक तक्षक की,
नृत्य निरत आज
दुरभिसन्धि और दानवी अट्टहास
किन्तु कहाँ अर्जुन
कहाँ वह

अज्ञात जिसे दैन्य पलायन,
मेरी शिक्षा का अर्जुन आज कहाँ
पद्धति गाण्डीव की कहाँ

कहाँ तूणीर
सुरक्षित जिस में शत शत खर शर धनं
दीक्षित यौवन,
जागे फिर अर्जुन आज जागे
अरे ओ रे बन्धु मेरे
भागे निद्रा आलस्य भय मैथुन भागे
इसलिये जगा
अर्जुन को आज जगा,
जागे फिर अर्जुन जागे
तीरों का करे निपात
वितत करे छत
छत के नीचे तक्षक
असहाय विस्मित
छत के ऊपर इन्द्र
असहाय कुपित स्तिमित,
ऊपर इन्द्र बरस बरस हो जाय बेकार
नीचे अग्नि लपक झपक
तक्षक को कर डाले क्षार
राष्ट्र का कञ्चन
हो जाय—
बारह बानी कुन्दन !

मैं अंग्रेज़ी का विरोधी कब
किन्तु नहीं सह्य मुझे
मात्र दम्भ और अहं के पोषक
वे पब्लिक स्कूल
जहाँ पलता वर्गहीन समाज का विद्वेषी व्यक्तित्त्व
जहाँ खिलता रायसाहिब रजवाड़ों का स्वत्त्व,
मैं अंग्रेज़ी का विरोधी कब
किन्तु नहीं सह्य मुझे
अंग्रेज़ी के हित
हत्या हिन्दी की
अथवा प्रादेशिक भाषा
अन्य किसी की !

ईसलिये कॉलिज मैं
अंग्रेज़ी भेड़िये द्वारा माँद बनाए गए
'सतलुज' नामक पत्रिका के दफ्तर द्वार पर
खड़ा हो कर
फिर तूफ़ानी वेग से पुकार कर
पूछता है दशक पीछे के
भूतपूर्व सम्पादक का प्रेत एक
अपने ही क्रमजात सम्पादक से
प्रश्न एक !!!

●

सावधान

षट्पदी

शतियों बाद हुए स्वाधीन देश के द्रोही स्तम्भ
क्यों टिक पाएँ नभ की नीली छत के नीचे आज,
वर्गभेद के सूत्रधार साम्राज्यवाद के दन्त
क्यों रह पाएँ क्लब होटल के जबड़ों में स्थिर आज
सावधान, रे अंग्रेज़ी के महापद्म ओ नन्द
तक्षशिला की धरती पर चाणक्य रहा जग आज !

●

लो, पढ़ लो
आ गया निमंत्रण
हो रहा पाणिग्रहण
उस इक का
सौभाग्यवश जिस ने
अपने को मेरी छात्रा
मेरी निष्ठा की पात्रा
कभी नहीं माना,
पाई स्नातकोत्तर उपाधि
हिन्दी की
पाया प्राध्यापक पद
हिन्दी का
रही सम्पादिका वह
कॉलिज पत्रिका में
हिन्दी के उस विभाग की
दशक एक पहले
सींच कर जिस को
लहू पसीने से अपने
था बड़ा किया मैंने
क्योंकि तब हो निर्वाचित प्रधान
छात्र-संघ का मैंने
अपने स्नेही-सहयोगी
सहचर-सहवर्ती
सुहृन्मण्डल सहित
थे किये सुरक्षित
लड़ भिड़ तप कर
रगड़ झगड़ कर
क्रम में दो स्थान प्रथम
हिन्दी—पंजाबी के हित !

जय हिन्दी

किन्तु दशक पीछे
सन पेंसठ में
हिन्दी वालों के हाथों
लुट गया रिक्थ वह मेरा,
पत्रिका में हो गई तिरस्कृत
पंजाबी भी हिन्दी की तरह
और फिर हो गई पुरस्कृत
अंग्रेज़ी पहले की तरह
क्योंकि सन छासठ से
अंग्रेज़ी को यद्यपि
नहीं अभी हिलना था
हिन्दी को तदपि बनना था
देश की भाषा,
सो तो बन गई
किन्तु जड़ अंग्रेज़ी
साम्राज्यवाद की
समाजवाद की उर्वरा धरा में
और भी जम गई,
समाजवादी नारे
साँझ सकारे
कर जिस तरह रहे
पोषण पूंजीवादी साम्राज्यवाद का
उसी तरह
करके व्यवहार निरन्तर

अंग्रेज़ी का
हिन्दी वाले कुछ
करते चले जा रहे अविरत अचूक
तन मन से सेवा हिन्दी की,
दूकान देहरी बारज पर
नाम फलक अंग्रेज़ी में
जय हिन्दी!
बीजक-खाते-बही पावती पर
चल रही कलम अंग्रेज़ी में
जय हिन्दी!
अध्यापक प्राध्यापक हिन्दी के
करते पत्र व्यवहार अंग्रेज़ी में
बुलाते उपस्थिति तक भी
करते अङ्कित अंग्रेज़ी में
जय हिन्दी!
मुण्डन पाणिग्रहण
जन्मदिन – अभिनन्दन
सबके आमन्त्रण अंग्रेज़ी में
जय हिन्दी!
यदि साक्ष्य हो अभी अपेक्षित
तो लो, पढ़ लो
आ गया निमन्त्रण
वेडिङ्ग
× × ×
वेड्स
× × ×
हो रहा पाणिग्रहण
उस इक का
सौभाग्य वश जिस ने
अपने को मेरी छात्रा
मेरी निष्ठा की पात्रा
कभी नहीं माना,
कुछ औरों की तरह जिस ने
कभी नहीं मुझको जाना
न अनुमाना पहिचाना,
होंगे मेरी तरह
और भी कोई
देख रहे होंगे जो विधान
कॉन्वेण्टों पब्लिक स्कूलों
अंग्रेज़ीबाज़ी के माध्यम से
वर्गहीन समाज का,
करने पर सजग सावधान
कुछ चढ़ी नाक भौंह
कुछ घूरती आँखें
झपटती होंगी जिन पर
लपकती हुई जीभें
कहती होंगी जिनको
ठहाका ठेल कर
जय हिन्दी!!
सुनो हिन्दी वालो
सुनो तुम
आगरा प्रयाग वाराणसी से नहीं
नहीं पटना जयपुर पिलानी से
बोलता हूँ बँट चुके पंजाब से
मैं तुम्हारा अनसुना
अनचीन्हा कवि,
खोलता हूँ तथ्य को
कि राष्ट्र की ही तरह
हिन्दी पर संकट है
आज विकट संकट है,
सुनो, बात मेरी सुनो
फिर स्पन्दनों में गुनो
सङ्कट के मूल में

पहले हो तुम,
तुम—नाम लेवा हिन्दी के
फिर कोई और है,
नाम ले कर हिन्दी का
समाजवाद की तरह
काला मत करो मुख हिन्दी का,
इतिहास अभी भी गवाह
बीसवीं शती: पूर्वार्द्ध का
कि बिना सहयोग पाए
किसी सरकार का
जनता की जीभ बन
संबल व्यवहार का
हिन्दी ने जिया है,
आड़े समय झाँसी वाली—
रानी का
ब्रह्मपुत्र महानदी गङ्गा के—
पानी का
हिमाद्रि तुंग शृङ्ग
अथवा कन्या कुमारी का
साथ सदा दिया है
और निश्शंक निस्संकोच
निर्भीक हो
प्रयाग-अमरनाथ-पक्षी तीर्थ के—
आराध्य
भगवान नीलकण्ठ पशुपति नाथ
की ही तरह
हलाहल हिन्दी ने पिया है,
राष्ट्र के रक्षार्थ
उस ने ताण्डव भी किया है
किन्तु नहीं दम्भ को दिया हाथ
कुत्सा का किया नहीं कभी साथ,
व्यवसाय बाज़ो में उसको तुम
राँधो मत,

बनने दो स्वत्व उसे
बनने दो राष्ट्र की संगमनी भाषा,
सको तो उस को स्थान दो
सम्मान दो
दैनंदिन व्यवहार में
अन्यथा मत नाम लो
उस का बेकार में,
हिन्दी हो अन्तरंग
हिन्दी हो बहिरंग
अन्तरंग—बहिरंग
खेलें रंग संग संग
जीवन को ऐसा आधार दो,
अंग्रेज़ी को रूसी फ्रेन्च
जर्मन सा प्यार दो
अंग्रेज़ी के समान अब
अफ़्रीका औ' एशिया की
भाषा को स्थान दो
क्योंकि नहीं दंभी अंग्रेज़ी—
बाज़ों से
अपितु अत्र तत्र सर्वत्र
जन साधारण से अभीष्ट संपर्क है,
सम्पर्क वही मधुपर्क है
साम्राज्यवाद से मुक्त हो रहे—
विश्व के लिए
समाजवाद पर मुग्ध हो रहे—
मनुज के लिए
यही एक तर्क है
यही एक तर्क है,
इसीलिए मुक्त करो आज तुम
मुक्त करो स्वत्व को
अंग्रेज़ो के सामन्ती मोह
औपचारिक आसेप अभिभाव से,
सशक्त करो हिन्दी को

अन्तरंग बहिरंग के अभेद भाव से,
करो संस्थापित सम्पर्क तुम
दक्षिण-पूर्व-मध्य एशिया
अफ्रीका से
योरुप अमरीका से,
बात करो सभी से
सभी की भाषा में,
जारिणी अंग्रेज़ो के
जारज सामन्तों से मिलो
किन्तु रहे ध्यान
सावधान,
दक्षिण पूर्व एशिया
सामन्ती जारजों में नहीं
जनसाधारण में है,
अंग्रेज़ी की जहाँ
नहीं पहुंच
हृदय मध्य एशिया
अफ्रीका की वहाँ है,
भारत का हृदय भी
जारज सामन्तों में
नहीं है
नहीं है,
पंजाब असम बंग
तमिल नाडु में,
उत्तर प्रदेश मध्य भारत
महाराष्ट्र में,
अंग्रेज़ी के जारज
सामन्तों का
मुँह आज तोड़ दो,
कपाल क्रिया करो देशद्रोह की
दैत्य सामन्त का
मुण्ड आज फोड़ दो,
जागो अरे जागो
ग्राम नगर बसे
जनार्दन के जीवन को
नया आज मोड़ दो,
रहे चिर भारत की भारती
चन्द्रकला राष्ट्र रूप शिव के—
ललाट की
शिविका वह राष्ट्र के अभीष्ट—
ब्रह्मास्त्र की
वाणी वह बोध के स्फीतिमय—
विराट की
भौंहों पर आकर्ण बिन्दु लिए
तेरह भाषाओं के
मातृभूमि की भ्रूमध्यस्था ऊर्ध्वगा
अरुण बिन्दी
हिन्दी है हिन्दी !!
जय हिन्दी !!!

रात अँधेरी है

सूनसान सड़क पर बढ़ रहा मैं
जनरेला कम नहीं
कोलाहल लेकिन मौन है मेरे लिये,
रात अँधेरी है !
सड़क किनारे की बीमार बीजुरियाँ
समझतीं यही कि वे राह दिखा रहीं
हर पग पर मुझे,
किन्तु मैं फैल सिमट रहा
छाया-उपछाया में !
छाया के संग जो भाग रही पीछे
वह विगत में पैठ है मेरी
छाया के संग जो भाग रही आगे
वह अनागत में दौड़ है मेरी
मेरी देह को ढो रहे जो अविरत
छू रही सिमट-सिमट जिनको
छाया यह मेरी
वही वर्तमान में पैर हैं मेरे !
तब क्या हूँ मैं, कौन ?
कहो कोई !
मैं कुछ भी नहीं
छाया विगत की
उपछाया अनागत की पथ पर वर्तमान के !
पैर-दा साँस
माप रहे पहुँच रहे किसको अहरह
क्या उसको जो भूति में स्थूल विराट
या उसको अस्तित्व जो सूक्ष्म अराट ?
सूनसान सड़क पर बढ़ रहा मैं
रात अँधेरी है !!!

●

अभी आधी रात

गीत

समझता तू प्रात लेकिन
अभी आधी रात
बेसुध, अभी आधी रात है!

तारकों की मछलियों के देश पर फिर डाल डेरा
जाल फैला काल का बैठा हुआ कोई मछेरा
मुग्ध मन से और तन से मौन योगी की तरह वह
सुन सकेगा किस तरह इस पल विकल आह्वान तेरा,
ध्यान की यह शक्ति उसकी
अभी तक कब ज्ञात
तुझको, अभी तक कब ज्ञात है!
अभी आधी रात
बेसुध, अभी आधी रात है!!

श्याम है यह शून्य इस में है अँधेरा ही अँधेरा
किन्तु इसमें सोनमछुरी सूर्यदल का भी बसेरा
देखता तू सोनमछुरी सा यही जो दीप-दिनकर
कौन जाने कब बुझा दे पकड़ कर इस को मछेरा,
पकड़ उस की बहुत गहरी
नहीं सुनता बात
निष्ठुर नहीं सुनता बात है!
अभी आधी रात
बेसुध, अभी आधी रात है!!

स्वर्ण लगता वर्ण तुझ को जो कि जुगनू तारकों का
सतत उसमें उच्छलन है वर्ण के शत सप्तकों का
सात तुझको ज्ञात लेकिन इतर तुझको हैं विदित कब
बोध बाकी है बहुत उपसर्ग प्रत्यय कारकों का,

बाध को प्रतिभा तुम्हारी
रही अब भी कात
अविरत रही अब भी कात है !
अभी आधी रात
बेसुध, अभी /आधी रात है !!

देखता है शून्य अनचीन्हा धरा से अनमना तू
गा रहा है बैठ तरणी पर धरा की अनसुना तू
द्वीप कोई कब न जाने पास आए उतर जिस पर
बैठ तट पर पाँव फैला उठे नव स्वर गुनगुना तू,

कल्पना से किन्तु उस की
अभी पुलकित गात
क्यों तू अभी पुलकित गात है !
अभी आधी रात
बेसुध, अभी आधी रात है !!

●

कुछ कह न सका मैं

षट्-पदी

जाने दे दिया किसी ने क्या कुछ
ऐसा वरदान कि रो न सका मैं !
बिना पानी के मछली की तरह
तड़पता भी रहा मगर मर भी न सका !
लूटते रहे सभी बिना देखे आगा-पीछा
कुछ कह न सका मैं !

कोशिश भी की कि कहूँ कुछ,
मगर हँस दिए सब, बात रह गई यूँ ही !
लेकिन मैं नहीं हुआ अब भी
निराश, तूफ़ान से लड़ूँगा मैं !
मेरे बाज़ू में बल है,
मेरी देह में अब भी है साँस बाकी ॥

नहर किनारे
फैली हरियाली गेहूँ जौ बरसन
फूली पीली सरसों मटियाली पटसन
इन खेतों में,
शीशम शमी शिरीष कहीं कीकर
चिड़ियाँ तोते बुलबुलें भटीटर
साथी प्यारे !

मौन रसिक ओ !

× × ×

भूमा जो खेल रही है इस जग में
इस जग को जो देख रही है मुझ में
माँ वह मेरी,
मैं उसके उर का कोई इक लल्लन,
मृगशावक का निर्झर सा नटखटपन
जीवन मेरा !!

× × ×

चुप चुप चल छाया सा पीछे आगे
सीमा पर साँसों के शर को साधे
काल अहेरी,
उसका है मेरी माँ से कैसा नाता
सोच-सोच कर भी कुछ समझ नहीं आता
हाय विवशता !!

× × ×

तन की जो गाड़ी यह मेरा जीवन
जिसको खींच रहे साँसों के वाहन
मन हाँक रहा,
भूमा के अंतर्मन अय मौन रसिक ओ
इस गाड़ी में बैठे तुम कौन पथिक हो
जो देख रहे
नहर किनारे
फैली हरियाली गेहूँ जौ बरसन
फूली पीली सरसों मटियाली पटसन

उन खेतों में
दिखते जिनमें
शीशम शमी शिरीष कहीं कीकर
चिड़ियाँ तोते बुलबुलें भटीटर !!!

× × ×

नहर किनारे
बैठा चुप किरनों के पग फैलाए
चल जल में चरणों को चुप डुबकाए
आलोक पुरुष
मुसकाता खिल खुल-खुल कर अविरत
जैसे लहराता नाद अनाहत
अन्तरिक्ष में !

× × ×

ढलवाँ पुल के नीचे ठोकर खाती
आहत हो बहती धारा बल खाती
पुनः सँभलती
जाकर झट दूर क्षितिज को छूलेने
छूकर फिर आहत स्वर को चुपकाने
पुनः मचलती !!

× × ×

फेन के फूलों में खिलती मालती
आलोक पुरुष की कर रही आरती
चरण धो रही
तरुणी वह मचल-मचल पड़ते उर की
लहरों में बिखर-बिखर पड़ते स्वर की,
उपासिका वह
उस मंदिर में
फैली हरियाली गेहूँ जौ बरसन
फूली पीली सरसों मटियाली पटसन—
दिखतीं जिसमें,
दिखते जिसमें
शीशम शमी शिरीष कहीं कीकर
चिड़ियाँ तोते बुलबुलें भटीटर !!!

●

सोचा,

नव वर्ष के उपलक्ष्य में
आँकूँ शुभाशंसाए।

सोचा,

शिशिर में खिल-खिल पड़तीं
घटपुष्प लतिकाएँ
बन जाएँ
मेरी शुभाशंसाएँ
और वहीं कहीं
तन्वी श्यामा शाखाओं पर—
राँगे की धूप लीलतीं
छनिक छबि उनमीलतीं
शत-शत बोल बोलतीं
नीली नीली चिड़ियाँ
बन जाएँ
मेरी ही धड़कन की
शत-शत शब्दावलियाँ,
फैलाएँ
मेरी ही आँखों की पाँखें,
लहराएँ
मेरी ही साँसें
अन्तरिक्ष में उड़ उड़
बूड़ें उतराएँ,

सोचा,

बूड़ें उतराएँ शत-शत शब्दा-
वलियाँ
शब्दावलियों में मेरी ही अन्त-
र्ध्वनियाँ
अन्तर्ध्वनियों में उभर उभर-
आएँ

नव वर्ष क्रिस्तान

एक प्रतिक्रिया

सतरंगी किरनों जैसी
मेरी ही साँसें
बन बन आलोक शलाकाएँ
क्रिसमस के वृद्ध सन्त के
हाथ थमी उपहार मालाएँ
जाएँ बिखर बिखर ये
मानवता के चिर मंगल की
शुभाशंसाएँ।

किन्तु

फिर आया ध्यान
कि यह तो नव वर्ष क्रिस्तान
नहीं विक्रम यह
शक यह कहाँ,
नहीं वैशाख यह
चैत्र यह कहाँ
और कहाँ मार्गशीर्ष
अहह अगहन!
पुकार उठा अन्तर्मन
'यह है उदार महान
अपना वह हिन्दुस्तान
स्वाधीन जो
सृष्टि का श्रेय
प्रेय वह संस्कृति संस्थान
जिसके अपने शक-विक्रम
सामाजिक सौध-सदन में
"शिक्षित-दीक्षित" जनगण में

आज उपेक्षित
हो रहे तिरस्कृत !
राष्ट्रीय संवत्सर अपना
आकाशवाणी है केवल
या फिर है केवल सपना !

और फिर गई दृष्टि
मेज़ पर सामने
धरे जहाँ ग्रीटिंग कार्ड,
शुभाशंसा की लिपि में वे पुते
परन्तु दास्य के सूचक भी वे-
सब,
सहज सरल निश्छल उर के
उद्गगार
किन्तु भारत माता के शक
विक्रम हाथों में पड़ी
लौह शृंखलाओं के वाचक भी
वे सब,
कागज़ के टुकड़े वे मनहर
दुर्धर किन्तु वही लौह
शृङ्खलाएँ
तदपि शुभाशंसाएँ !

किन्तु
फिर आया ध्यान
कि आर्य द्रविड़ यक्ष–
यवन मुस्लिम ईसाई
सब भारत भू पर तो भाई-
भाई
तब फिर यह नव वर्ष क्रिस्तान
क्यों न आरहा रास,
क्यों न हो रहीं मुखर
मेरी शुभाशंसाएँ
मन क्यों है आज उदास ?

क्या केवल संकीर्णता
आई घिर मुझमें इस याम
या फिर घेर रहा मुझको
राष्ट्र पर संकट का कोई-
आयाम ?

लो. पुनः पुकार उठा
मेरा निजत्व
संस्कृति का स्वत्त्व,
लगी लौ
उर प्राची का फटा,
फटी पौ
अनुभूति के कलश कँगूरों ने–
बाँधा चिन्तन का अम्बर
औ' पौ फटने की वेला
मंदिर की घण्टा ध्वनि के साथ
शून्य में गूँजते लहराते
शंख स्वर जैसा
गूंज उठा मेरा आह्वान
'कि नहीं नहीं'
उपेक्षणीय कभी नहीं
नव वर्ष क्रिस्तान,
कि राम-कृष्ण-बुद्ध की तरह
मुहम्मद औ' ईसा अभिनंद्य
कि वेदोपनिषत्पुराण की तरह
इंजील कुरान बाइबल भी वन्द्य
पर चढ़ा कर एक की बलि
दूसरे का चाव से शृङ्गार
यह कहाँ की संस्कृति है
यह कहाँ की सभ्यता का सार ?
क्या यही है अर्थ
सह-अस्तित्व का
कि शक-विक्रम घूंट विष के पियें
अपनी ही जननी की गोद में

बिना पिये पय घुट घुट कर वे जियें
जबकि उनके प्रति
उदासीन हम
प्रमादी हम
शिक्षित-दीक्षित
'संस्कृत' 'सभ्य' 'भारतीय' हम
उदार निज को कहें
बन्द करें आँखें
राय साहिब कबूतर की तरह
और चिर सुरक्षित रहें ?

हर नव वर्ष का उत्कर्ष
उर मेरा स्वीकारता सहर्ष
किन्तु
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में
राष्ट्र अपने के लिये
नहीं ही स्वीकार सकता मैं
उन सब लौह शृङ्खलाओं को
हों दास्य की प्रतीक जो !
दस्यु वह दास्य का
निपोरता है दाँत जो
आज भी
दाँत उसके तोड़ मैं दूँगा
संकल्प की ही साँग से
आँत उसकी काढ़ मैं लूँगा !

शक-विक्रम के साथ
हिज्री क्रिस्तान भी मेरे
किन्तु शक-विक्रम पहले हैं
यही तो इतिहास है
यही तो इतिहास !
इतिहास से ही धुले हैं
अनुभूति के ये स्वर मेरे
तभी तो
सोचता हूँ
अधीर होकर सोचता हूँ
आज मैं
कि किस पुण्य दिन
होगा अभिनन्दन
जन-साधारण की तरह
'शिक्षित-दीक्षित'
'सभ्य संस्कृत'
'भारतीय' द्वारा
शक-विक्रम के अरुण विहान का
संस्कृतियों के क्षीर सिन्धु का
अथवा कैलाश अपने ही हिन्दुस्तान
का !

सोचा,
नव वर्ष के उपलक्ष्य में
आँकूँ शुभाशंसाएँ !!!

श्री गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज की ३००वीं वर्षगाँठ पर
एक आवाहन

सत्य श्री अकाल
जय जय महाकाल

जो छाया रहता प्राची पर
पश्चिम का असुर तिमिर
हँस हँस बुहारतीं उसको
प्राची की किरणें प्रतिदिन
बारज पर जिसके झुकझुक कर,
प्राची दक्षिण से उत्तर पश्चिम तक
भिक्षुक कण कण की
फैली झोली को भरती
बादल की टोली टोली
बढ़ती अनुदिन करती यात्रा
पौण्टा आनन्दपुर अमृतसर की
गुरुसर नानकसर मुक्तसर की
आशीश वरद जिसका पा कर,
वह गुरु चाणक्य की सिद्ध पीठ
वह धम्म चक्र का आवर्तन
वह राष्ट्र पुरुष का शक्ति तीर्थ
परमाणु बीच का नाभि मूल,
अवतरण बीज—
वह क्रिया शक्ति का चिर कृतार्थ
वह तमस शत्रु
वह सत्त्व मित्र
पाटलिपुत्र वह चिर पवित्र !

पाटलिपुत्र वह चिर पवित्र
है रूप धर रहा आज
चन्दन का धूप अगरु का

क्योंकि हो रहा अवतरण पर्व
उसके पद्मनाभ अमिताभ
अकाल पुरुष सतगुरु का !

किन्तु शक्ति का तीर्थ वह
आज असहाय कराह रहा,
चाणक्य कहाँ—
रस सिद्ध-पीठ का वहाँ,
वहाँ सब रूखा है,
धम्म चक्र का आवर्तन भी कहाँ
कहाँ वह पद्मनाभ की नाभि
ध्यान से देखो,
नाभि-सरोवर सूखा है !
पर्व मनाने वालो देखो,
अवतरण बीज वह कहाँ
वहाँ का कण कण भूखा है !!

अकाल में खड़ा अकाल पुरुष
अब तुम्हें चुनौती देता है
'दम्भ रचो मत
मेरे साथ अरे, अन्याय करो मत !
अखण्ड पाठ है मेरा
दुष्ट का दलन आर्त्त का त्राण,
पन्थ है मेरा भवभय भंजन
निर्भयता का दान;
किन्तु रहाउ—करो विचार,
निर्भयता वही
करे जो मानवता के चिर मङ्गल का गान
शोषित भीत त्रस्त हों जिससे चिर आश्वस्त
बने जो गौरी चण्डी का प्रसाद वरदान
अन्यथा पूँछ हिलाते कुत्तों
रँगे सियारों को भी
और भेड़ के भेस घूमते घात दागते
भेड़ियों को भी

होता अपनी महिषासुर निर्भयता पर
बहुत-बहुत अभिमान !
अकाल पुरुष मैं ही वह राष्ट्र पुरुष
मुख जिसका ब्राह्मण
क्षत्रिय हैं युगल भुजाएँ
वैश्य जिसकी जंघाएँ
शूद्र हैं युगल चरण !
होता जो मुझे समर्पित
पंच ककार सहित
ख़ालसा वही
वही छकता अमृत !
सको तो बनो खालसा
अन्यथा भजो न गोविन्द
रचो न मेरे हित
नूतन सरहिन्द
दीवारें पहले ही काफ़ी हैं !
देव ऋषि पितृ लोक ऋण के प्रति
पंचभूत समर्पण के
मेरे हैं पाँचों प्यारे,
गो धरती माता जिसकी
साक्षी गोवर्धन जिसका
गोविन्द मैं वही,
सिंह मैं क्रिया शक्ति का वही
प्रतिष्ठित जिस पर
मीनाक्षी माँ दुर्गा कामाख्या !
गुरु ग्रन्थ है मेरा
कामधेनु धरती का पय
भारत के दर्शन की धारा,
रक्षा उसकी जो करे
लेकर सत्य श्री की असि धारा
बस, वही बुलाए जयकारा
सत्य श्री अकाल !!
जय जय महाकाल !!!

प्रवाल : एक सम्बोधन

वन्ध्या शाखाओं के गर्भस्थ
प्रसूति के आश्वास बाल
मेरी आशाओं के प्रवाल,
मौन आन्दोलित अन्तस्थ
बाहिर स्पन्दन में स्फुट गान
प्राण के ओ रे मेरे प्रमाण!
पूर्व मधुमास के
प्रताड़न पतझर का
शिंशपा शिरीष को
निम्ब रक्तचूड़ को
हरस हरस परसता
कब विजड़ नहीं करता?
किन्तु अस्त मघा का
फाग के राग का
ऋतु के सुहाग का
कब रूप नहीं रचता?
भोर में विभोर क्षण क्षणिक हैं
उषा का वर वदन क्षण भर
चिरन्तन है गति ही चित् की
क्षणिक है क्षणिक है
स्थिति ही जड़ की
तब फिर भय क्यों
कैसी यह शंका
जड़ को स्थिति की?
क्यों न राग अपना
हो रहा समर्पित
चित् को

चिरन्तन—
सदातन—
सनातन को,
क्यों न ताप त्रिविध भय
हो रहा आहुत
विज्ञ अध्येता—
प्रज्ञचेता—
नचिकेता के यज्ञ में!
सत्कार जड़ प्रकृति का
लक्ष्य कब
अभीष्ट कब,
—इंगित वह
लक्ष्य का
अभीष्ट का;
पुरस्कार जड़ प्रकृति का
लब्धि कब
सिद्धि कब,
—इंगित वह
लब्धि का
सिद्धि का;
व्यवसाय है साधन
साध्य कहाँ,
वेतन है साधन
सिद्धि कहाँ,
चिन्ता व्यवसाय वेतन की
बेटी जिस व्यवस्था की
उस के ही सुत

मूल्य सत्ता सम्पत्ति के,
नहीं चुक रहा अब भी
अभिभावन पूँजी का,
बोझ, बहुत बोझ है
संस्कृति के दम्भ का,
दर्शन विज्ञान कला के
हर देवालय में
निपोर रहा दाँत अभिजात
पुरोहित पाखण्ड बिडम्ब का,
जनतन्त्र अब भी
बड़ी हवेली का वह 'दुखरन'
वह 'हरिया' वह 'रामगुलाम'
हवेली के छोटे बड़े
हर किसी के अधरों पर
गूँजता जिसका नाम
किन्तु
विलासिता के कीड़ों का
पालन छोड़
और क्या उसका काम ?
समाजवाद अब भी
चौराहे का वह बुत
आदर्श की तरह जड़ खड़ा जो
दीन मौन पुकार रहा,
चरणों में उस के
कारों का रेला
टीं टिँ टी ँ टीं
पों पुँ पूँ पों
मदिरोन्मत्त मदान्ध की तरह
हँकार रहा
कर रहा अट्टहास,
रिक्शा में जुते मानव जैसा
शेष जन जीवन
निरन्न निर्वसन निराश्रय
कुरलाता इधर तिधर
कर रहा संचय
भूति का
और वहीं
पछवाड़े में बुत के
चौराहे के एक तरफ़
सामने, ठीक सामने गेलार्ड्स के
पाहन दुर्दैव को पीटती
रोड़ी कूटती
महिला वह राजस्थानी
रण आँगन के चतुर चितेरे—
चित्तौड़ की
पूज्या वह पद्मिनी रानी
वंद्या मेरी माँ दुर्गा
वह लक्ष्मीबाई
अपनी पोशाक बचा जिससे
जाते पास ही
कॉन्वेण्ट में पढ़ने
इक सचिव की बिटिया मिस नीना
इक मिल मालिक की बेटी मीनू
और इक मन्त्री का बेटा राजू
आदि आदि सब
राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी को जपते
सिकोड़ते नाक भौं अकसर
देसी स्कूलों में पढ़ते
'असभ्य' 'अनपढ़' 'गँवार' बच्चों पर;
'राष्ट्रीय एकता'
'जनतन्त्र' याकि 'समता' पर,
कक्षा याकि आकाशवाणी से
बच्चों के कार्यक्रमों में
रटा हुआ भाषण एक उगल कर

श्रेष्ठता अपनी बघारते
चाचा—नहीं नहीं—ग्रंकल के
यही भतीजे
साले ये रानी खाँ के
वी. आई. पी. ये कल के
ये वर्गहीन भारत के उन्नायक
कोटि-कोटि जन के भावी ये
भाग्य विधायक !
फैला है अन्धकार ही ग्रन्धकार
रोशनियाँ बिजली की
घोंटतीं गला
पी रहीं रक्त,
वैसे चौराहे पर आकर मिलते
कैसे ये जगमग करते बाज़ार
क्रय विक्रय का इन में
यह कैसा है क्रम
कैसा यह जीवन व्यापार !
किन्तु—
नहीं मेरा विश्लेषण यह व्यर्थ
सूक्ष्म अभी यह,
साकार कहाँ इसका वह अर्थ
चौराहे के बुत में जो प्राण भरेगा
'दुखरन' 'हरिया' की चर्या को
नवजीवन जो दान करेगा,
फट जाएगी पौ
छट जाएगी
गला घोंटतीं
रक्त—पी रही—
रोशनियाँ ये बिजली की,
बेलून की तरह
फूटेगा तिमिर
हो जाएँगी मुक्त
बन्दिनी साँसें युग की,
तब हो कर प्रकट
जीवन की वन्ध्या डाली पर
तू मुसकाएगा,
खगकुल के कलरव में
तू ही लहराएगा
किलकारी बन शिशु की,
तब
शिंशपा शिरीष
रक्तचूड़ पिचुमन्द सभी में
नव जीवन फूट उभर ग्राएगा
मौन आन्दोलित अन्तस्थ
बाहिर स्पन्दन में सन्तत
स्फुट गान
मेरी अस्थाओं के प्रवाल
ग्रादर्शों के मेरे अरुण विहान
प्राण के ग्रो रे मेरे प्रमाण !

●

Arya College, Women Section
Ludhiana

LIBRARY

Date Due

This book should be returned on or before the date last marked below or fines will be incurred

2/2/19		

Arya College, Ludhiana

Women Section

LIBRARY

Acc. No. 7387

1. Books may be retained for a period not exceeding 14 days by students and for not more than 30 days by the members of staff.
2. Books may be renewed on request at the discretion of the Libarian or on special permission of the Principal.
3. Failure to return a book in time shall render the borrower liable to a fine of 10 paise per volume per day from the date when the book was due.
4. Dog-earing the pages of a book, marking or writing therein with ink or pencil, tearing or taking out its pages or otherwise damaging it will constitute an injury to a book.
5. Any such injury to a book is a serious offence. Unless a borrower points out the injury at the time of borrowing the book, he shall be required to replace the book or pay its price.

Help to keep the book fresh and clean